प्रतिवेद्य

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय

दीवानी अपीलीय अधिकारिता

दीवानी अपील संख्या 2365/2020
(एस. एल. पी (दीवानी) सं. 2307/2019 से उत्पन्न)

निशा प्रिया भाटिया **....अपीलार्थी**

बनाम

भारत संघ एवं एक अन्य **...प्रत्यर्थीगण**

संग

फौजदारी अपील सं. 413/2020
(एस. एल. पी (फौ.) सं. 10668/2015 से उत्पन्न)

रिट याचिका (फौजदारी) सं. 24/2012

रिट याचिका (फौजदारी) सं. 1/2016

निर्णय

न्यायमूर्ति ए.एम. खानविलकर

1. यह मुक़दमा नियोक्ता और कर्मचारी के रिश्ते के संदर्भ में राज्य-नागरिक के परस्पर व्यवहार के बीच कानूनी संतुलन बनाने के बारे में सवाल उठाता है। राज्य की छतरी के तहत रोज़गार का स्वरूप जटिल है एवं प्रायः यह निभाए जाने वाले कर्त्तव्य के स्वरुप को निर्धारित करता है और उनके द्वारा प्रयोग किए जाने वाले अधिकार इसके साथ सहसम्बद्ध होने चाहिए| अर्थात जितना उच्च पद एवं जिम्मेदारियां, वृहत जनहित में व्यक्तिगत अधिकार का क्षेत्र एवं स्वरुप प्रतीपानुपाती होने चाहिए| फलस्वरूप वर्तमान मामले जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिसमें राष्ट्रीय सुरक्षा के गंभीर मामले से निपटने वाले राज्य संस्थान की सुरक्षा तथा आसूचना अधिकारी के रूप में वहाँ नियोजित किसी व्यक्ति के वैयक्तिक हित के बीच संतुलन की न्याय, स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व के आधारभूत संवैधानिक मूल्यों के आलोक में विधिक जाँच की जा रही है|

2. यह संयुक्त निर्णय "पहचान" के आधार पर अनुसंधान और विश्लेषण विंग (भर्ती, कैडर और सेवा) नियम, 1975 (संक्षेप में, "1975 नियम") के नियम 135 के तहत अपीलार्थी की अनिवार्य सेवानिवृत्ति की कार्रवाई से संबंधित और उससे उत्पन्न होने वाले सभी चार मामलों का निपटान करेगा। एसएलपी (दीवानी) संख्या 2307/2019 से उत्पन्न होने वाली दीवानी अपील संख्या 2365/2020 में अपीलार्थी की मुख्य शिकायत को समाहित करते हुए प्रमुख मामले के तौर पर निपटा गया है।

<u>दीवानी अपील संख्या 2365/2020 @ विशेष अनुमति याचिका (दीवानी) सं. 2307/2019</u>

3. अनुमति प्रदानित।

4. प्राथमिक चुनौती प्रत्यर्थीगण द्वारा दायर रिट याचिका (दीवानी) संख्या 2735/2010 में दिनांक 7.1.2019 को पारित निर्णय (संक्षेप में आक्षेपित निर्णय) को है, जिसके ज़रिये नई दिल्ली स्थित दिल्ली उच्च न्यायालय (संक्षेप में, 'उच्च न्यायालय') ने अपीलार्थी के अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश को बरकरार रखा और ओ.ए संख्या 50/2010 में केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण (संक्षेप में अधिकरण) द्वारा दिनांक 16.3.2010 को पारित आदेश को पलट दिया जिसमें अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश को निरस्त करते हुए अपीलार्थी को वापस सेवा में बहाल करने का आदेश दिया गया था।

5. संक्षेप में कहा जाए तो 22.2.1988 को, अपीलार्थी ने अनुसंधान एवं विश्लेषण सेवा (आरएएस) के तहत "सीधी भर्ती" के रूप में अनुसंधान एवं विश्लेषण विंग (संक्षेप में "संगठन" या "विभाग") ज्वाइन किया था। उन्हें निदेशक, प्रशिक्षण संस्थान (गुड़गांव) के पद सहित सेवा के कार्यकाल के दौरान विभिन्न विभाग सौंपे गए जहां वह 2.7.2004 से अगस्त, 2007 तक पदस्थापित रहीं। 3.8.2007 को, अपीलार्थी को नई दिल्ली स्थित मुख्यालय में निदेशक के रूप में पदस्थापित किया गया। गुड़गांव और दिल्ली में तैनाती

के दौरान, अपीलार्थी को क्रमशः श्री अशोक चतुर्वेदी और श्री सुनील उके के साथ बातचीत करनी होती थी, जो उस समय विभिन्न क्षमताओं में संगठन में काम कर रहे थे।

6. 7.8.2007 को, अपीलार्थी ने संगठन के प्रभारी सचिव (आर) के रूप में कार्यरत श्री अशोक चतुर्वेदी और उस समय संगठन में संयुक्त सचिव के रूप में कार्यरत श्री सुनील उके के खिलाफ यौन उत्पीड़न की शिकायत दर्ज कराई। अपीलार्थी ने आरोप लगाया कि आरोपित अधिकारियों ने त्वरित पदोन्नति हासिल करने हेतु संगठन के अंदर चल रहे सेक्स रैकेट में शामिल होने के लिए कहकर उसका उत्पीड़न किया और उपकृत करने से इन्कार करने पर उसे सताया गया| इस प्रकार भूल-चूक को लेकर आरोपों का सिलसिला शुरू हुआ जो मुक़दमेबाज़ी में परिणत होकर वर्तमान के चार मुक़दमों तक पहुँच गया है|

7. संगठन ने लगभग तीन महीने के अंतराल के बाद ***विशाखा और अन्य बनाम राजस्थान राज्य और अन्य*** में स्थापित दिशानिर्देशों के अनुसार एक शिकायत समिति का गठन कर यौन उत्पीड़न के आरोपों का जवाब दिया और संगठन की एक महिला अधिकारी सुश्री शशि प्रभा को तीन सदस्य शिकायत समिति के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त किया। इस प्रकार गठित शिकायत समिति में ***विशाखा*** (उक्त) में दिए गए दिशानिर्देशों के अनुसार किसी ग़ैर-सरकारी संगठन या अन्य निकाय के प्रतिनिधि के रूप में तीसरे पक्ष को शामिल नहीं किया जो यौन उत्पीड़न के मुद्दे से परिचित हो| परिणामस्वरूप, 1.11.2007 को राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद सचिवालय (NSCS) के निदेशक डॉ तारा करथा को जोडकर समिति को पुनर्गठित किया गया।

8. उल्लेखनीय है कि कई अनुस्मारक के बावजूद, अपीलार्थी ने समिति के समक्ष घोषित कार्यवाही में भाग लेने से इन्कार कर दिया और इस तरह से इन्कार का निम्नलिखित कारणों का हवाला दिया:

"(i) *विशाखा* दिशानिर्देशों के अनुसार विभागीय समिति के गठन करने की आवश्यकता; और,

(ii) समिति को श्री अशोक चतुर्वेदी के खिलाफ कार्यवाही करने का कोई अधिकार नहीं था, क्योंकि समिति के अध्यक्ष उनके खिलाफ आरोपों की जाँच करने के लिए पर्याप्त रूप से वरिष्ठ नहीं थे।

9. विभागीय शिकायत समिति ने अपनी एकपक्षीय रिपोर्ट में यह कहा कि श्री सुनील उके के खिलाफ यौन उत्पीड़न का कोई भी आरोप साबित नहीं किया जा सका है। इस रिपोर्ट के बाद प्रधानमंत्री कार्यालय में एक बहु-चर्चित घटना सामने आई जहाँ अपीलार्थी ने ख़बरों के अनुसार 19.08.2008 को आत्महत्या करने का प्रयास किया| हमें प्रधानमंत्री कार्यालय में इस घटना के तथ्यात्मक पहलू पर विस्तृत रूप से विवेचना करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन वर्तमान मुकदमेबाजी के उद्देश्य से, यह उल्लेख करने के लिए पर्याप्त है कि इस घटना के कारण, अपीलार्थी का नाम और पदनाम मीडिया में व्यापक रूप से सामने आया। इसके अलावा, इस घटना से उत्पन्न अपीलार्थी के खिलाफ आपराधिक मामले को महानगर दंडाधिकारी, पटियाला हाउस न्यायालय , नई दिल्ली द्वारा दिनांक 21.9.2013 को रद्द कर दिया गया।

10. इस घटना के बाद श्री अशोक चतुर्वेदी के खिलाफ शिकायतों की जाँच-पड़ताल करने के लिए भारतीय प्रशासनिक सेवा के एक सेवानिवृत्त अधिकारी सुश्री राठी विनय झा की अध्यक्षता में तत्कालीन प्रधान मंत्री द्वारा एक और समिति का गठन किया गया था। समिति ने श्री अशोक चतुर्वेदी के खिलाफ आरोपों को दो पहलुओं से निपटा- प्रथम यह कि अपीलार्थी की शिकायत मिलने पर ***विशाखा*** (उपरोक्त) के दिशानिर्देशों के अनुसार कार्य न करने का आरोप; दूसरी बात, यौन उत्पीड़न के दायरे में आने वाले कृत्य में वास्तव में लिप्त होने के आरोप। इस समय, हम केवल पहले आरोप को लेकर चिंतित हैं, जो सचिव (आर) द्वारा इस न्यायालय के ज़रिए ***विशाखा*** (उपरोक्त) में पारित विस्तृत दिशानिर्देशों के अनुसार कार्य करने में की गई चूक है। राठी विनय झा समिति ने

इस निष्कर्ष के साथ जांच संपन्न की कि अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य के आधार पर अपने सहयोगियों के हाथों अपीलार्थी के यौन उत्पीड़न का कोई मामला नहीं बनता| हालाँकि, समिति ने कई महत्वपूर्ण टिप्पणियों को दर्ज किया जिनका इस निर्णय के बाद के हिस्से में उचित समय पर उल्लेख किया जाएगा।

11. इसके अलावा, प्रधानमंत्री कार्यालय में उपरोक्त घटना के बाद, मंत्रिमंडल सचिवालय ने पत्र सूचना कार्यालय के माध्यम से, दिनांक 19.8.2008 को "सुश्री निशा प्रिया भाटिया द्वारा आत्महत्या के प्रयास से संबंधित तथ्य पत्र" नामक शीर्षक से एक प्रेस नोट जारी किया| इस प्रेस नोट में घटना, विभाग के भीतर अपने सहयोगियों के खिलाफ उनकी शिकायतें और उनके मानसिक स्वास्थ्य एवं मनोवैज्ञानिक स्थिति के बारे में जानकारी थी। यह उल्लेख करना उचित है कि अपीलार्थी की अशांत मानसिक स्थिति के बारे में टिप्पणी, अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (AIIMS) के मनोचिकित्सा विभाग के प्रमुख से सचिव (R) द्वारा मांगी गई एक अनौपचारिक राय पर आधारित थी। उल्लेखनीय है कि इस न्यायलय ने रिट याचिका (फौजदारी) संख्या 24/2012 में दिनांक 19.08.2008 की प्रेस नोट को दिनांक 15.12.2014 के आदेश के ज़रिए अपीलार्थी के मानवाधिकारों और व्यक्तिगत गरिमा का घोर उल्लंघन करार देते हुए रद्द कर दिया| आदेश के प्रासंगिक भाग में इस प्रकार टिपण्णी की गई है:

> "उपरोक्त के उचित मूल्यांकन पर, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस आधार पर प्रेस नोट जारी की गई थी, उसका कोई आधार नहीं है। जैसा कि हम समझते हैं, प्रेस नोट नागरिक और निसंदेह किसी भी रैंक के पदाधिकारी की प्रतिष्ठा में खोखलापन पैदा करती है| प्रेस नोट जारी करने का कोई कारण नहीं था| हम समझ सकते हैं कि प्रेस नोट जारी की जाती है कि संबंधित व्यक्ति के खिलाफ अपराध दर्ज किया गया है क्योंकि यह एक संज्ञेय अपराध है लेकिन हम इस तरह के प्रेस नोट जारी करने की सराहना नहीं कर सकते जो एक अधिकारी की गरिमा, प्रतिष्ठा और गोपनीयता को प्रभावित करता हो|
>
> पूर्वोक्त के मद्देनजर, हम दिनांक 19.08.2008 की प्रेस नोट को रद्द करते हैं| यह ज़ोर देने की जरूरत नहीं है कि जब हम एक प्रेस नोट या

> किसी भी चीज़ को रद्द कर देते हैं, तो यह कानून की नजर में मौजूद नहीं होता है और यह समझना होता है कि यह किसी भी समय किसी भी उद्देश्य के लिए अस्तित्व में नहीं था।"

12. पीएमओ में 19.8.2008 की घटना ने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पोर्टलों पर मीडिया का भारी ध्यान आकर्षित किया है और मीडिया रिपोर्टों की एक श्रृंखला में परिणत हुई, जिससे संगठन के साथ उसके संबंध सहित अपीलार्थी की पहचान सार्वजनिक चर्चा का विषय बन गई। इस घटना ने धुरी का काम किया जिसके इर्द-गिर्द बाद में सार्वजनिक पहचान की घटनाओं ने आकार लिया और जो अंततः नियम 135 के दायरे में अपीलार्थी के एक्सपोजर अर्थात पहचान सार्वजनिक होने का कारण बनी| उपरोक्त घटनाओं के आलोक में, अपीलार्थी को "उजागर" घोषित कर दिया गया। इसके अलावा, संगठन के काम के स्वरुप को ध्यान में रखते हुए प्रत्यर्थीगण ने अपीलार्थी को रोजगार के लिए अयोग्य घोषित कर दिया क्योंकि गोपनीयता और गुप्तता संगठन के अपरिहार्य तत्व हैं|

13. एक खुफिया अधिकारी के रूप में पहचान सार्वजनिक होने के कारण अपीलार्थी की अनियोज्यता की घोषणा दिनांक 18.12.2009 को पारित अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश के ज़रिए 1975 के नियमों के नियम 135 के तहत की गई| प्रत्यर्थीगण की दुर्भावना एवं कार्रवाई में स्पष्ट मनमानी के आधार पर ओ.ए संख्या 50/2010 में अपीलार्थी ने अधिकरण के समक्ष इस आदेश पर आपत्ति जताई| अधिकरण ने अपीलार्थी की इस आदेश से संबंधित चुनौती को सही ठहराते हुए दिनांक 16.03.2010 के आदेश द्वारा अपीलार्थी को फिर से सेवा में बहाली का निर्देश दिया| अधिकरण ने निम्न प्रकार टिपण्णी की:

> “हम पक्षकारगण द्वारा प्रस्तुत सामग्रियां देख चुके हैं| उन्हें सुनने के बाद हमारी पुष्ट राय है कि अपीलार्थी के साथ ज़बरदस्त मनमानी की गई है और उसके वैधानिक एवं संवैधानिक अधिकारों का हनन हुआ है| नियम 135 (1) (ए) के उपाय का समर्थन नहीं किया जा सकता। परिणामस्वरूप, हमारा विचार है कि आवेदक स्वीकार्य राहत अर्थात पुनः बहाली की हकदार है| हम उक्त निष्कर्ष पर आने के निम्न कारण देते हैं।”

14. अपीलार्थी की सेवानिवृत्ति के बाद, उनकी अनंतिम पेंशन CCS (पेंशन) नियम, 1972 के नियम 69 के तहत तय की गई, जो दिनांक 10.05.2010 के आदेश के द्वारा उनकी सेवानिवृत्ति की तिथि से उनकी अनधिकृत अनुपस्थिति अर्थात दिनांक 29.8.2008 से 26.11.2009 तक की अवधि के नियमित होने तक थी। अनंतिम पेंशन उनके द्वारा 28.8.2008 को प्राप्त अंतिम वेतन पर अधिकृत थी। उसके बाद रिट याचिका (दीवानी) संख्या 2012/3704 में दिल्ली उच्च न्यायलय ने दिनांक 21.10.2013 को पारित आदेश के ज़रिए अनधिकृत अनुपस्थिति की अवधि को नियमित कर दिया जो कि इस न्यायालय द्वारा एस.एल.पी. (दीवानी) सी.सी. संख्या 6762/2014 में सही ठहराया गया और 19.12.2009 से पेंशन लाभ पूरा करने के लिए अपीलार्थी को हकदार बताया|

15. बहरहाल, अधिकरण ने कहा कि अनिवार्य सेवानिवृत्ति का आदेश संविधान के अनुच्छेद 14 और 311 का उल्लंघन है और नियम 135 को असंवैधानिक घोषित करने से असमर्थ रहा| यह निम्न शब्दों पर संतुष्ट रहा:

> "20. .....हमें लगता है कि सहायक नियम एक अधिकारी, जिसने काफी वर्षों की सेवा की है, को प्राप्त गारंटीकृत अधिकारों को समाप्त करने के लिए अपर्याप्त है। जैसा कि हमने पाया है कि आवेदक को कानून के संरक्षण से वंचित किया गया है, जो कि संविधान के अनुच्छेद 14 के तहत एक मौलिक अधिकार है| यह हमारे लिए आवश्यक नहीं है कि हम अनुसंधान और विश्लेषण विंग (भर्ती, कैडर और सेवा) नियम के नियम 135 (1) (ए) की संवैधानिकता पर आगे विचार-विमर्श करें या यह घोषणा करें कि प्रयोग किया गया नियम शून्य है, क्योंकि यह अनुच्छेद 311 के खंड (2) का उल्लंघन करता है।"

16. प्रत्यर्थीगण द्वारा रिट याचिका (दीवानी) 2735/2010 में उच्च न्यायालय के समक्ष अधिकरण के उक्त आदेश का विरोध किया गया जिसमें उच्च न्यायालय ने एक विस्तृत निर्णय द्वारा अधिकरण के फैसले को दिनांक 7.1.2019 के आक्षेपित निर्णय के ज़रिए पलट दिया और नियम 135 के तहत जारी अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश को बरकरार

रखा। 1975 के नियमों के नियम 135 की संवैधानिक वैधता की चुनौती की भी उच्च न्यायालय ने जांच की और उसे नकार दिया। शुरुआत में, हम इस मुद्दे से निपटने को उचित समझते हैं कि क्या 1975 के नियम 135 को असंवैधानिक माना जा सकता है।

<u>नियम 135 की संवैधानिकता के सम्बन्ध में प्रस्तुतियाँ</u>

17. हमारे समक्ष अपीलार्थी द्वारा यह तर्क दिया गया है कि नियम 135 संविधान के अनुच्छेद 311 का सीधे उल्लंघन है जो संघ या राज्य के अधीन नागरिक क्षमताओं में नियोजित व्यक्तियों पदच्युत करने, पद से हटाने या पंक्ति में अवनत करने से संबंधित है क्योंकि कथित नियम कर्मचारी के उस अधिकार को संशोधित कर उसे नुकसान पहुंचाता है| उसी तर्क के विस्तार में, यह कहा गया है कि अनुच्छेद 311 के तहत निर्धारित प्रक्रियात्मक सुरक्षा उपायों का पालन करने में विफलता अपीलार्थी को कानून की समान सुरक्षा से वंचित करने के समान है इस प्रकार संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होता है। इसके अलावा, यह भी तर्क दिया गया है कि संविधान के अनुच्छेद 309 द्वारा नियम 135 को बचाया नहीं जा सकता है, क्योंकि अनुच्छेद 309 में भर्ती और लोक सेवकों की सेवा की शर्तों का एक अलग क्षेत्र शामिल है, जबकि सेवा समाप्ति के दौरान अपनाई जाने वाली कानूनी प्रक्रिया विशेष रूप से संविधान के अनुच्छेद 311 के दायरे में आती है। इसके अतिरिक्त, कथित नियम 135 अस्पष्टता के दोष से बुरी तरह प्रभावित है।

18. इस प्रस्तुति को मजबूती प्रदान करने के लिए अपीलार्थी ने ***करतार सिंह बनाम पंजाब राज्य*** में कानूनों की शून्यता पर इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों पर निम्नलिखित शब्दों में भरोसा किया है:

> “130. यह कानूनी न्यायशास्त्र का मूल सिद्धांत है कि यदि क़ानून के निषेध स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं हैं तो यह अस्पष्टता की वजह से शून्य होता है| अस्पष्ट कानून कई महत्वपूर्ण मूल्यों को भंग कर देते हैं।

> इस बात पर जोर दिया जाता है कि कानूनों को सामान्य बुद्धि के व्यक्ति को यह जानने का उचित अवसर देना चाहिए कि क्या निषिद्ध है, ताकि वह उसके अनुसार कार्य कर सके। अस्पष्ट कानून निष्पक्ष चेतावनी नहीं देकर निर्दोषों को फंसा सकते हैं। ऐसा कानून अभेद्य रूप से बुनियादी नीतिगत मामलों को पुलिसकर्मियों और न्यायाधीशों को एक तदर्थ और व्यक्तिपरक आधार पर मनमाना और भेदभावपूर्ण उपयोग से जुड़े खतरों के साथ समाधान का अधिकार देता है। इससे भी अधिक यह कि प्रयोग किए गए अनिश्चित एवं अपरिभाषित शब्द नागरिकों को निस्संदेह रूप से "गैर कानूनी क्षेत्र के अत्यधिक बाहर ले जाते हैं ..... बजाय तब जबकि निषिद्ध क्षेत्र की परिधि स्पष्ट हो।"

19. आगे की प्रस्तुतियों में अपीलार्थी ने अधिकरण की टिपण्णी के आधार पर नियम की संवैधानिकता के खिलाफ अपने तर्क भी दिए हैं कि नियम इसके प्रकाशन की अनुमति प्रदान नहीं करता है और न ही संगठन में सेवारत कर्मचारियों को इस तरह के नियमों के अस्तित्व के बारे में पूर्व सूचना के निष्पक्ष व्यवहार की सबसे बुनियादी आवश्यकता को संतुष्ट करता है। यह आग्रह किया गया है कि अपीलार्थी को नियम के अस्तित्व के बारे में पता नहीं था और नियमों की प्रति प्राप्त करने के बाद भी, उसके लिए इसे गुप्त रखना आवश्यक था।

20. दूसरी ओर, प्रत्यर्थीगण ने कहा है कि संविधान के अनुच्छेद 311 का अनिवार्य या समय से पहले सेवानिवृत्ति के मामले से कोई लेना देना नहीं है क्योंकि अनुच्छेद 311 पदच्युति, पद से हटाने या पंक्ति में अवनति से जुड़े मामलों तक ही सीमित है। प्रत्यर्थीगण की दलील है कि अनुच्छेद 311 का उपयोग सजा के रूप में सेवा समाप्ति से जुड़े मामलों में किया जाता है। जबकि, 1975 के नियमों के नियम 135 के तहत अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश में वास्तव में सजा होना आवश्यक नहीं है|

21. प्रत्यर्थीगण का कहना है कि अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त करने के लिए नियम 135 के तहत शक्ति संविधान के अनुच्छेद 309 के परंतुक से आती है जो सेवा की शर्तों से संबंधित हैं; जबकि अनुच्छेद 310 प्रसाद के सिद्धांत से संबंधित है| यह भी प्रस्तुत किया गया है कि अनिवार्य सेवानिवृत्ति का एक प्रावधान होने के नाते नियम 135 में कोई

दंडात्मक परिणाम शामिल नहीं है जैसा कि मौलिक नियम 56 (जे) (संक्षेप में "एफआर 56 (जे)") का मामला है। साथ ही ***भारत संघ बनाम कर्नल जे.एन. सिन्हा और एक अन्य*** में इस न्यायलय की व्याख्या पर निम्न शब्दों में भरोसा किया गया है:

> "अब मौलिक नियम 56 (जे) के व्यक्त शब्दों पर आते है, यह कहता है कि सक्षम प्राधिकारी को सरकारी कर्मचारी को सेवानिवृत्त करने का पूर्ण अधिकार है यदि उसे लगता है कि ऐसा करना जनहित में है। सक्षम प्राधिकारी को दिया गया अधिकार पूर्ण है| उस शक्ति का प्रयोग नियम में उल्लिखित शर्तों के अध्यधीन किया जा सकता है, जिनमें से एक यह है कि संबंधित प्राधिकारी को अवश्य लगना चाहिए कि ऐसा करना जनहित में है। यदि वो प्राधिकारी सद्भावनापूर्वक वो राय बना लेता है तो उस राय की संशुद्धता को अदालतों के समक्ष चुनौती नहीं दी जा सकती। व्यथित पक्ष यह तर्क देने के लिए स्वतंत्र है कि अपेक्षित राय नहीं बनाई गई है या निर्णय संपार्श्विक आधार पर आधारित है या कि यह एक मनमाना निर्णय है| प्रत्यर्थी संख्या 1 की सेवा शर्तों में से एक यह है कि सरकार पचास साल पूरे होने के बाद उसे किसी भी समय सेवानिवृत्त कर सकती है यदि उसे लगता है कि ऐसा करना जनहित में है| अपनी अनिवार्य सेवानिवृत्ति के कारण सेवानिवृत्ति से पहले उसके द्वारा अर्जित अधिकारों में से कोई भी ख़त्म नहीं होता। अनिवार्य सेवानिवृत्ति में कोई दीवानी परिणाम शामिल नहीं हैं। उक्त नियम 56 (जे) सरकारी कर्मचारियों के खिलाफ कोई दंडात्मक कार्रवाई करने के लिए नहीं है। यह नियम संविधान के अनुच्छेद 310 में सन्निहित प्रसाद सिद्धांत के पहलुओं में से एक है। इस नियम के तहत प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए सक्षम प्राधिकारी के पास विभिन्न विचार आ सकते हैं। कुछ मामलों में, सरकार को ऐसा लग सकता है कोई विशेष पद किसी अधिकारी द्वारा अधिक उपयोगी ढंग से जनहित में धारण किया जा सकता है जो धारण करने वाले की तुलना में अधिक सक्षम हो। हो सकता है कि जो अधिकारी पद संभाल रहा है वह अक्षम न हो लेकिन सक्षम प्राधिकारी अधिक कुशल अधिकारी रखना पसंद करे। यह भी हो सकता है कि कुछ प्रमुख पदों पर जनहित में यह आवश्यक हो कि वहां निस्संदेह योग्यता वाला और ईमानदार व्यक्ति होना चाहिए। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सभी संगठनों और ज़्यादातर सरकारी संगठनों में बेकार व्यक्ति काफी अधिक हैं और उन्हें हटा देना ही जनहित में होता है| मौलिक नियम 56 (जे) व्यक्तिगत सरकारी कर्मचारी के अधिकारों और जनता के हितों के बीच संतुलन रखता है। हालाँकि सरकारी कर्मचारी को न्यूनतम सेवा की गारंटी दी जाती है, सरकार को अपने तंत्र को सक्रिय करने और उन लोगों को अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त करके इसे अधिक कुशल बनाने के लिए शक्ति दी जाती है जो उसकी राय में जनहित में वहां नहीं होने चाहिए|"

<u>आक्षेपित निर्णय में प्रस्तुतियों एवं निष्कर्षों का विश्लेषण</u>

22. आक्षेपित निर्णय में, 1975 नियमों के नियम 135 के गैर-प्रकाशन के खिलाफ तर्क और बाद में नोटिस प्राप्त करने की अपीलार्थी की असमर्थता को निम्नलिखित शब्दों में खारिज कर दिया गया:

> "61. यह निस्संदेह सच है कि कुछ प्रमाणिकताएं हैं (बी.के. श्रीनिवासन एवं एक अन्य बनाम कर्नाटक राज्य, एआईआर 1987 एससी 1054 एक ऐसा है) जो यह दर्शाता है कि मानदंड संचालित करने के लिए इसे प्रकाशित किया जाना चाहिए| हालांकि, वर्तमान मामले में एक विचित्र स्थिति पैदा हो गई है, क्योंकि अनुसंधान एवं विश्लेषण विंग संगठन खुफिया काम में शामिल हैं; तर्कों के दौरान, इसके अधिवक्ता ने इसे मंत्रिमंडल सचिवालय के अधीन विंग के रूप में संदर्भित किया। सेवा की शर्तों का प्रकाशन, संगठनात्मक संरचना और संभवतः विभिन्न अधिकारियों और कर्मचारियों के काम के प्रवाह को बाहर जाने देने को गोपनीयता के समझौते के रूप में माना जाता है जिसे संगठन हर समय बनाए रखने के लिए लड़ता है। इन मजबूरियों को देखते हुए, इस न्यायालय का मत है कि R&AW के कैडर ढांचे का व्यापक प्रचार जनहित में नहीं था। हालांकि, अभिलेख से यह स्पष्ट है कि प्रार्थी को नियम के बारे में पता था और उसने CAT को दिए अपने आवेदन में यह नहीं बताया कि उसे अंधेरे में रखा गया था; नियम को चुनौती देने वाली अर्जी में जो कहा गया है, वह यह है कि पहली बार, अनिवार्य सेवानिवृत्ति के समय उसे पता चला और यह कि नियमों को गुप्त रखा गया था| भारत संघ का जवाब यह है
>
> > "1975 के नियम पूरे देश में R&AW के सभी कार्यालयों और मुख्यालय के विभिन्न वर्गों में रखे गए हैं। R& AW के सभी अधिकारियों की इन नियमों तक पहुंच है; लेकिन ये आम तौर पर जनता के लिए उपलब्ध नहीं होते क्योंकि वे गुप्त होते हैं।"
>
> 62. उपरोक्त तथ्यों से ऐसा लगता है कि याचिकाकर्ता को नियमों विशेषकर नियम 135 के बारे में पता था। अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश के बहुत बाद, उसने एक अलग रिट याचिका में इसे चुनौती दी| भले ही इस आधार पर विबंधन लागू नहीं किया जा सकता है, लेकिन अदालत की राय है कि अनुसंधान और विश्लेषण विंग के स्वरुप और उक्त नियम को प्रकाशित न करने के लिए बाध्य करने वाली मजबूरियों के मद्देनज़र, नियम के प्रचार का अभाव वैध आधार नहीं हो सकता है|"

23. नियम 135 की संवैधानिक वैधता को चुनौती "उजागर" और "सुरक्षा" जैसे अस्पष्ट और खुले शब्दों के उपयोग के कारण दुरुपयोग की आशंका पर भी आधारित है। ***भारत संघ एवं एक अन्य बनाम तुलसीराम पटेल*** पर भरोसा करते हुए, उच्च न्यायालय ने 'राज्य की सुरक्षा' की परिभाषा से 'अस्पष्ट' और 'खुले अंत' जैसे शब्दों के

प्रयोग को खारिज कर दिया। उच्च न्यायालय ने ***तुलसीराम पटेल*** (उपरोक्त) में निम्नलिखित आदेश के संदर्भ में इस शब्द का अर्थ निकाला:

> "141. ...राज्य की सुरक्षा" का भावार्थ पूरे देश या पूरे राज्य की सुरक्षा नहीं है। इसमें राज्य के एक हिस्से की सुरक्षा शामिल होती है। इसे सशस्त्र विद्रोह या विद्रोह तक भी सीमित नहीं किया जा सकता। कई तरह से राज्य की सुरक्षा प्रभावित हो सकती है| यह रक्षा उत्पादन या इसी प्रकार के मामलों से सम्बंधित रहस्यों या जानकारियों को दूसरे देशों को देने से, चाहे वे हमारे देश के दुश्मन हैं अथवा नहीं, अथवा आतंकवादियों के साथ गुप्त संबंध द्वारा भी प्रभवित हो सकती है| राज्य की सुरक्षा को प्रभावित करने वाले तरीकों का संख्यांकन करना कठिन है| जिस तरह से राज्य की सुरक्षा प्रभावित होती है वह या तो खुली या गुप्त हो सकती है....."

24. ==== न्यायालय ने दोहराया कि अनुसंधान और विश्लेषण विंग खुफिया गतिविधियों को अंजाम देने वाला संगठन है जो राष्ट्र के सुरक्षा हितों से संबंधित है और इस प्रकार, "राज्य की सुरक्षा" के भाव की व्यापकता को संगठन द्वारा अंजाम दी गई विशिष्ट गतिविधियों के अलोक में देखा जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में आक्षेपित निर्णय के पैरा 65 में निम्न बातें दर्ज हैं:

> "65. प्रार्थी के तर्क हैं कि "सुरक्षा" भाव एक अस्पष्ट शब्द है और इसका कोई अर्थ नहीं है। उसकी दलील है कि किसी भी अन्य अभिव्यक्ति के उपयोग के बिना इस शब्द का प्रयोग इसे अस्पष्ट एवं दुरूपयोग योग्य बनता है| इस संदर्भ में, न्यायालय यह दोहराएगा कि R & AW एक संगठन है जो स्वीकार्य रूप से उन खुफिया गतिविधियों में लगा हुआ है जो राज्य की सुरक्षा से संबंधित है| किसी भी अन्य अभिव्यक्ति की अनुपस्थिति में, अभिव्यक्ति "सुरक्षा" का स्वाभाविक अर्थ होग- नियम 135 के संदर्भ में यदि कर्मचारी या अधिकारी की गतिविधियां ऐसी हैं कि इसे संगठन या देश की सुरक्षा के लिए यथोचित खतरा माना जाता है, तो नियम लागू हो सकता है। इस संदर्भ में, तुलसी राम पटेल (उपरोक्त) की उपरोक्त टिप्पणियां प्रासंगिक हैं। अदालत ने रेखांकित किया है कि राज्य की सुरक्षा को प्रभावित करने वाले विभिन्न तरीकों का संख्यांकन करना मुश्किल है। न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया था कि राज्य की सुरक्षा में राज्य के हिस्से की सुरक्षा शामिल है। यदि कोई इन टिप्पणियों को इस तथ्य के संदर्भ में देखता है कि अनुसंधान और विश्लेषण विंग के सदस्य संविधान के अनुच्छेद 33 (50 वें संशोधन अधिनियम, 1984 द्वारा संशोधित) के दायरे में आते हैं, न्यायलय के लिए यह स्पष्ट है कि नियम 135 के दायरे में आने वाला कोई भी कार्य इस तरह का होना चाहिए जो राष्ट्र

> की सुरक्षा या रिसर्च एंड अनालिसिस विंग की सुरक्षा के लिए खतरा हो। इसके अलावा, संगठन में इसके सदस्य और कर्मी शामिल हैं। इसलिए, अगर किसी निर्धारित मामले में, अनुसंधान और विश्लेषण विंग का कोई भी सदस्य ऐसे व्यवहार में लिप्त होता है, जो संभावित रूप से उसके संपूर्ण मनोबल को क्षति पहुंचाता है या असंतोष का कारण बनता है, तो यह उसकी सुरक्षा के लिए खतरा बन सकता है। "

25. 1975 के नियमों के नियम 135 की संवैधानिकता का विरोध करने के लिए, अपीलार्थी द्वारा अस्पष्टता और व्यापकता के आधार पर "एक्सपोजर" शब्द को चुनौती दी गई थी| इस आपत्ति से निपटने के दौरान, उच्च न्यायालय ने अभिव्यक्ति की स्पष्ट व्याख्या की और निम्नलिखित शर्तों में आपत्ति को खारिज कर दिया:

> “66. जहाँ तक आवेदक को "एक्सपोज़र" शब्द पर आपत्ति का संबंध है, यहाँ एक स्पष्ट व्याख्या के बाद, यह स्पष्ट है कि यदि R & AW के किसी भी सदस्य की पहचान, जो कि व्यापक रूप से नहीं जानी जानी चाहिए,ज्ञात अथवा प्रकाशित की जाती है और वह घटना या कार्रवाई उसकी सुरक्षा या अपने कर्मियों की सुरक्षा या राज्य की सुरक्षा के लिए वास्तविक या आशंकित खतरे का कारण है, तो यह नियम लागू होगा| विभिन्न स्थितियों की कल्पना करना कठिन है जिसमें अनुसंधान एवं विश्लेषण विंग कर्मियों की पहचान सार्वजनिक होने से सुरक्षा को खतरा हो सकता है। उदाहरण स्वरूप, किसी ऐसे व्यक्ति की पहचान जो किसी वरिष्ठ पद पर हो, अपने आप में सुरक्षा या अनुसंधान एवं विश्लेषण विंग के लिए खतरा पैदा नहीं कर सकता है। लेकिन किसी भी घटना के माध्यम से संवेदनशील कार्यों या सञ्चालन में किसी भी तरह से शामिल इसके अधिकारियों की पहचान का सार्वजनिक होना अनुसंधान एवं विश्लेषण विंग या राज्य की सुरक्षा से समझौता का कारण बन सकता है| ऐसा होने का एक तरीका यह है कि अगर इस तरह के किसी व्यक्ति की सच्चाई सामने आ जाती है तो वह शत्रु ताकतों द्वारा जांच के लिए खुला हो सकता है और ऐसे मौकों पर भी खतरों का सामना करना पड़ सकता है, जिससे संगठन के रहस्य स्वैच्छिक या अन्यथा ज़ाहिर हो सकते है जो देश की सुरक्षा के लिए खतरा हो सकता है। इसलिए, अभिव्यक्ति "सुरक्षा" और "एक्सपोज़र" का उपयोग अस्पष्ट या मनमाना नहीं है लेकिन संदर्भ और R & AW के अंतर्निहित उद्देश्यों के मद्देनजर राज्य की सुरक्षा या अनुसंधान एवं विश्लेषण विंग की सुरक्षा और संबंधित व्यक्ति की सार्वजनिक पहचान मुराद है।"

<u>संवैधानिकता को चुनौती का निर्धारण</u>

26. अगर कोई कानून मौलिक अधिकारों के साथ असंगत है या उसका अपमान करता है तो संविधान का अनुच्छेद 13 लागू होगा। उस सूरत में, इस तरह का कानून असंगति की हद तक शून्य होगा। खण्ड (3) के आधार पर, शब्द "कानून", जिसका इस्तेमाल अनुच्छेद 13 में किया गया है, में एक सांविधिक "नियम" भी शामिल है और इस प्रकार नियम 135 की संवैधानिकता को अनुच्छेद 311 सहपठित अनुच्छेद 14 के उल्लंघनकारी होने के कारण संविधियों की संवैधानिकता का निर्धारण करने के लिए सामान्य सिद्धांतों की कसौटी पर वैध रूप से परखा जा सकता है|

27. संविधान का अनुच्छेद 311 लोक सेवकों की बर्खास्तगी, हटाने या पद घटाने के मामलों में प्राकृतिक न्याय के आवश्यक सिद्धांतों का प्रकटीकरण है और यह सुनिश्चित करने के लिए सरकार पर कर्तव्य डालता है कि लोक सेवक के खिलाफ ऐसे किसी भी फैसले से पहले जाँच की जाती है जिस में इस तरह के फैसले के खिलाफ सुनवाई और अभ्यावेदन का अवसर दिया गया हो| प्राकृतिक न्याय के उपर्युक्त सिद्धांत भी आमतौर पर अनुच्छेद 14 के तहत निहित हैं, क्योंकि प्रश्नगत लोक सेवक को इससे वंचित करना मनमानेपन के अवगुण से फैसला को कलंकित करेगा और लोक सेवक को कानून के समान संरक्षण से वंचित करेगा| अनुच्छेद 311 में इस प्रकार कहा गया है:

> **“311. संघ या राज्य के अधीन सिविल हैसियत में नियोजित व्यक्तियों का पदच्युत किया जाना, पद से हटाया जाना या पंक्ति में अवनत किया जाना|**
>
> (1) किसी व्यक्ति को जो संघ की सिविल सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का या राज्य की सिविल सेवा का सदस्य है अथवा संघ या राज्य के अधीन कोई सिविल पद धारण करता है , उसकी नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी के अधीनस्थ किसी प्राधिकारी द्वारा पदच्युत नहीं किया जाएगा या पद से नहीं हटाया जाएगा |
>
> (2) यथापूर्वोक्त किसी व्यक्ति को , ऐसी जांच के पश्चात् ही, जिसमें उसे अपने विरुद्ध आरोपों की सूचना दे दी गई है और उन आरोपों के संबंध में सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दे दिया गया गया है , पदच्युत किया

जाएगा या पद से हटाया जाएगा या पंक्ति में अनवत किया जाएगा, अन्यथा नहीं :

परंतु जहां ऐसी जांच के पश्चात उस पर ऐसी कोई शास्ति अधिरोपित करने की प्रस्थापना है वहां ऐसी जांच के दौरान दिए गए साक्ष्य के आधार पर अधिरोपित की जा सकेगी और ऐसे व्यक्ति को प्रस्थापित शास्ति के विषय में अभ्यावेदन करने का अवसर देना आवश्यक नहीं होगा :

परंतु यह और कि यह खंड वहां लागू नहीं होगा

जहां किसी व्यक्ति को ऐसे आचरण के आधार पर पदच्युत किया जाता है या पद से हटाया जाता है या पंक्ति में अनवत किया जाता है जिसके लिए आपराधिक आरोप पर उसे सिद्धदोष ठहराया गया है; या

(क) जहां किसी व्यक्ति को पदच्युत करने या पद से हटाने या पंक्ति में अनवत करने के लिए सशक्त प्राधिकारी का यह समाधान हो जाता है कि किसी कारण से , जो उस प्राधिकारी द्वारा लेखबद्ध किया जाएगा, यह युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं है कि ऐसी जांच की जाए; या

(ख) जहां, यथास्थिति , राष्ट्रपति या राज्यपाल का यह समाधान हो जाता है कि राज्य की सुरक्षा के हित में यह समीचीन नहीं है कि ऐसी जांच की जाए |

(3) यदि यथापुर्वोक्त किसी व्यक्ति के संबंध में यह प्रश्न उठता है कि खंड (2) में निर्दिष्ट जांच करना युक्तियुक्त रूप से साध्य है या नहीं तो उस व्यक्ति को पदच्युत करने या पद से हटाने या पंक्ति में अवनत करने के लिए सशक्त प्राधिकारी का उस पर विनिश्चय अंतिम होगा|"

28. और विश्लेषण के लिए, 1975 के नियमों के नियम 135 के मूलपाठ का उल्लेख करना भी उचित है, जो इस प्रकार है:

"135. अनिवार्य सेवानिवृत्ति पर अंतिम लाभ:

(1) संगठन के किसी भी अधिकारी को निम्नलिखित में से किसी भी आधार पर अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त किया जा सकता है

(क) एक खुफिया अधिकारी के रूप में उजागर हो गया हो या सुरक्षा कारणों से संगठन में अनियोज्य हो

(ख) विकलांगता या अपने कर्तव्यों के निष्पादन में उसे लगने वाली चोटें।

(2) उप नियम (1) के तहत किसी अधिकारी के सेवानिवृत्त होने पर, उसे ये दिया जा सकता है

(i) उस वेतन पर आधारित पेंशन जो कि उसने सेवानिवृत्ति की सामान्य आयु तक प्राप्त किया होता यदि वह सेवा में रहा होता और चयन के आलावा किसी अन्य तरीके से इन नियमों के अंतर्गत पदोन्नति प्राप्त की

होती अथवा वह अधिकतम वेतन जोकि उसने उस ग्रेड में प्राप्त किया होता जिसमें वह स्थायी था या उसकी सेवानिवृत्ति के समय वह नियमित रूप से नियुक्त था यदि वह सेवानिवृत्ति की आयु तक उस ग्रेड में निरंतर सेवा कर रहा होता, बशर्ते कि किसी भी स्थिति में ये पेंशन बारह सौ पचहत्तर रूपये से कम नहीं होगी।

(ii) तत्समय प्रवृत्त नियमों के अंतर्गत स्वीकार्य परिवार पेंशन तथा मृत्यु सह सेवानिवृत्ति ग्रैचुटी

(3) उपनियम 2 के अंतर्गत स्वीकार्य पेंशन, मृत्यु सह सेवानिवृत्ति ग्रैचुटी और परिवार पेंशन के अतिरिक्त सम्बद्ध व्यक्ति को उसकी अनिवार्य सेवानिवृत्ति से ठीक पूर्व उसके द्वारा प्राप्त मासिक वेतन के बारह गुणा के बराबर पुनर्वास अनुदान भी दिया जाएगा |

(4) संस्था का प्रमुख अपने विवेकानुसार सम्बद्ध अधिकारी को उप-नियम (2) के अंतर्गत देय पूर्ण पेंशन को एकमुश्त में बदलने की अनुमति देगा जोकि सेवानिवृत्ति की सामान्य आयु प्राप्त करने पर सेवानिवृत्त होने वाले व्यक्ति को स्वीकार्य राशि के परिवर्तित मूल्य के बराबर होगी |

29. अनुच्छेद 311 के मूलशब्दों के अवलोकन से पता चलता है कि यह अनुच्छेद तब लागू होता है जब किसी लोक सेवक को पदच्युत किया जाता है, हटाया जाता है या पंक्ति में अवनत किया जाता है। "पदच्युत" किया जाना, "पद से हटाया जाना" या "पंक्ति में अवनत" शब्द का उपयोग उन स्थितियों को कवर करने के इरादे की ओर स्पष्ट रूप से इशारा करता है जहां एक लोक सेवक को दंडात्मक परिणाम दिया जा रहा है। इस प्रकार जब तक लोक सेवक के खिलाफ कार्रवाई का स्वरुप दंडात्मक न हो, तब तक अनुच्छेद 311 के अनुसार सुनवाई का अवसर प्रदान करने के साथ जांच करने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं उठती। लोक सेवक के विरूद्ध विचारित कार्रवाई का स्वरुप अनुच्छेद 311 के तहत सुरक्षा उपायों को आकर्षित करने के लिए दंडात्मक होना चाहिए। अनुच्छेद 311 की नीति, उद्देश्य और कार्यक्षेत्र को इस न्यायालय द्वारा ***बॉम्बे राज्य बनाम सौभाग चंद एम दोशी*** में स्पष्ट किया गया है, जिसमें न्यायालय ने इस प्रकार टिपण्णी की:

> "10. अब, अनुच्छेद 311 (2) में अंतर्निहित नीति यह है कि जब किसी कर्मचारी के खिलाफ सजा के माध्यम से कार्रवाई करने का प्रस्ताव किया जाता है और जिसमें उसके द्वारा पहले से अर्जित लाभ की समाप्ति शामिल होगी, उसे सुने जाने और आदेश के खिलाफ कारण बताने का अवसर दिया जाना चाहिए। लेकिन वो विचार लागू नहीं नहीं

हो सकता है जहां आदेश दंडात्मक नहीं हो और पहले से अर्जित लाभों का कोई नुकसान नहीं हुआ है, और ऐसे में कोई कारण नहीं है कि रोजगार की शर्तों और सेवा के नियमों को प्रभाव नहीं दिया जाना चाहिए। इस प्रकार, यह तय करने के लिए वास्तविक मानदंड कि क्या एक कर्मचारी की सेवाओं को समाप्त करने वाला आदेश बर्खास्तगी या निष्कासन में से एक है, यह पता लगाना है कि क्या इसमें पहले से अर्जित लाभों का कोई नुकसान शामिल है या नहीं। इस जांच के अनुसार, नियम 165 ए के तहत आदेश को बर्खास्तगी या निष्कासन में से एक नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें पिछली सेवाओं के लिए आनुपातिक पेंशन का नुकसान शामिल नहीं है।

30. सवाल यह है कि क्या 1975 के नियमों के नियम 135 के तहत की गई कार्रवाई का स्वरुप दंडात्मक है या अनिवार्य सेवानिवृत्ति के रूप में बर्खास्तगी है ताकि संविधान के अनुच्छेद 311 के तहत सुरक्षा उपायों को आकर्षित किया जा सके? इस परीक्षा के लिए वास्तविक पड़ताल यह देखना है कि क्या अनिवार्य सेवानिवृत्ति का आदेश अनुपयुक्तता की चिंता या कदाचार की सज़ा के रूप में उत्पन्न हुआ है| वर्तमान मामले में, अपीलार्थी को अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश का बस निशाना बनाया गया है और अनुच्छेद 311 के तहत परिकल्पित बर्खास्तगी, निष्कासन या रैंक में कमी के रूप मे अपीलार्थी के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की गई है। ***सौभागचंद एम दोशी*** (उपरोक्त) में, बर्खास्तगी के आदेश और अनिवार्य सेवानिवृत्ति के बीच अंतर को निम्नलिखित शब्दों में समझाया गया था:

> "9....नियमों के तहत, बर्खास्तगी का आदेश एक सरकारी कर्मचारी को दी गई सजा है, जब यह पाया जाता है कि वह कदाचार या अयोग्यता का दोषी या इस जैसा है, और इसका स्वरुप दंडात्मक है क्योंकि इसमें पेंशन की हानि शामिल है जो पहले से ही प्रदान की गई सेवा के संबंध में नियमों के तहत अर्जित हुई होती| निष्कासन का आदेश भी बर्खास्तगी के आदेश के समान है, और इसमें समान परिणाम शामिल हैं, उनके बीच एकमात्र अंतर यह है कि बर्खास्त कर्मचारी पुनर्नियुक्ति हेतु योग्य नहीं है, जबकि निष्काषित किया गया योग्य है| ***सेवानिवृत्ति का आदेश पदच्युति और निष्कासन के आदेश दोनों से अलग होता है, इस में नियम द्वारा निर्धारित सजा का रूप नहीं होता और इसमें कोई दंडात्मक परिणाम शामिल नहीं होता क्योंकि सेवानिवृत्त व्यक्ति उसके द्वारा की गई सेवा के अनुपात में पेंशन का हकदार होता है|***"

31. ***उत्तर प्रदेश राज्य बनाम श्री श्याम लाल शर्मा*** में इस न्यायालय ने निम्नलिखित शब्दों में अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेशों के अर्थ और प्रभाव के सम्बन्ध में विभिन्न सुझाव रखे:

> "इन फैसलों से निम्नलिखित सुझाव निकाले जा सकते हैं| सबसे पहले, यह पता लगाने में कि क्या अनिवार्य सेवानिवृत्ति का आदेश सजा का आदेश है, यह पता लगाना होगा कि क्या अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश में आरोप या कलंक या अभियोग या दुर्व्यवहार का पहलू या संबंधित अधिकारी के खिलाफ अक्षमता का कोई तत्व था। दूसरे, अनिवार्य सेवानिवृत्ति का आदेश दंड का सूचक होगा यदि इस आदेश में पहले से अर्जित लाभ की हानि शामिल होगी। तीसरे, 25 साल की सेवा पूरी होने पर अनिवार्य सेवानिवृत्ति का आदेश या आगे की सेवा समाप्त करने के लिए जनहित में अनिवार्य सेवानिवृत्ति का आदेश बर्खास्तगी या निष्कासन का आदेश नहीं होगा क्योंकि सजा का कोई तत्व नहीं है। चौथे, अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश को इस आधार पर दंडात्मक आदेश नहीं माना जाएगा कि भविष्य की अपेक्षाओं के नुकसान की संभावना है, अर्थात्, अधिकारी को तब तक उसका वेतन नहीं मिलेगा, जब तक कि वह सेवानिवृत्ति की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है, या सेवा में कुछ साल रहने के लिए अनुमति नहीं मिलने और अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त होने पर बढ़ी हुई पेंशन नहीं मिलेगी।"

32. उक्त संदर्भित अनिवार्य सेवानिवृत्ति को नियंत्रित करने वाले स्थापित कानूनी दृष्टिकोण के अलोक में अनुच्छेद 311 सहपठित अनुच्छेद 14 के तहत इसके खिलाफ चुनौती पर ध्यान देने के लिए नियम 135 के आयाम पर विचार करते हैं**।** किसी कर्मचारी को अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त करने का मूल स्रोत "प्रसाद सिद्धांत" से लिया गया है, जैसा कि भारत में स्वीकार किया जाता है जो संविधान के अनुच्छेद 310 से उत्पन्न होता है। नियम 135 इस तरह के निर्णय लेने हेतु सारतत्व के रूप में कार्य करने के लिए केवल कुछ आधारों को निर्धारित करता है और शक्ति का स्रोत संविधान के अनुच्छेद 309 सहपठित अनुच्छेद 310 में निहित है| नियम 135 को एक विशेष प्रावधान के रूप में उकेरा गया है और आवश्यकता के सिद्धांत पर इसका आधार है। यह अकेला प्रावधान अनुच्छेद 309 के वर्ग के एक छोटे उप-समूह बनाता है और उन "खुफिया अधिकारियों" की "पहचान सार्वजनिक" होने के मामलों से सख्ती से निपटता है जो सुरक्षा कारणों से संगठन में अनियोज्य हो गए थे। नियम 135 के उप नियम (1) से

संकेत मिलता है कि अनिवार्य सेवानिवृत्ति का आदेश केवल उसमें निर्दिष्ट विस्तृत आधारों पर पारित किया जा सकता है अर्थात एक ख़ुफ़िया अधिकारी के रूप में पहचान का सार्वजनिक होना, संगठन में सुरक्षा कारणों से अनियोज्य होना या अपने कर्तव्यों के निर्वहन में एक अधिकारी द्वारा प्राप्त विकलांगता/चोटें। इस प्रकार समझा गया, नियम वस्तुनिष्ठ है, अच्छी तरह से व्यक्त और बोधनीय है। इसके अलावा, उल्लिखित कारण यह स्पष्ट करता है कि नियम 135 में ऐसी परिस्थितियाँ शामिल हैं, जिनके अस्तित्व से संगठन की अखंडता पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा यदि अधिकारी खुफिया अधिकारी के रूप में उजागर हो जाता है और सुरक्षा कारणों से संगठन में अनियोज्य हो जाता है। संभवतः यह न तो कदाचार या अक्षमता का मामला होगा और न ही इस तरह का ताकि दंडात्मक परिणामों को आकर्षित किया जा सके। यह किसी भी तरह से कर्मचारी के प्रति उसके आचरण के बारे में नहीं है, बल्कि संगठन द्वारा किए गए कार्यों की संवेदनशीलता के स्वरुप के संदर्भ में जनहित के कारण है। इसलिए, नियम 135 के तहत आदेश ***श्याम लाल*** (उपरोक्त) में उल्लेखित प्रथम सुझाव के अनुसार है और अपीलार्थी के खिलाफ कोई आरोप, कलंक या अभियोग शामिल नहीं है।

33. संक्षिप्त में दोहराएँ तो, नियम 135 एक निश्चित कालक्रम की परिकल्पना करता है और एक खुफिया अधिकारी के उजागर होने या (व्यक्तिगत, संगठनात्मक या राष्ट्रीय) सुरक्षा के कारणों से अनियोज्य होने पर सक्रिय होता है। अभिव्यक्ति "खुलासा", "अनियोज्यता" और "सुरक्षा" इस नियम के प्रमुख घटक हैं और सही सार और प्रभाव को समझने के लिए कालानुक्रमिक और प्राकृतिक क्रम में समझा जाना चाहिए।

34. इसके अलावा, यह ज़िक्र करना उचित है कि नियम 135 में संदर्भित आधार कहीं भी इसे अधिकारी की ओर से किसी चूक या गलत कार्य के परिणाम के रूप में नहीं

देखता और दंडात्मक कार्रवाइयों के विपरीत, वे निवर्तमान अधिकारी को कलंकित नहीं करते हैं या उनके द्वारा पहले से अर्जित लाभों का नुकसान इसमें शामिल नहीं है और न ही सजा का कोई तत्व है। नियम 135 के उप-नियम (2), (3) और (4) इस दृष्टिकोण को सुदृढ़ करते हैं क्योंकि ये उस लोक सेवक को पेंशन, ग्रेच्युटी, एकमुश्त राशि आदि जैसे उचित लाभ प्रदान करते हैं जिन्हें अनिवार्य सेवानिवृत्ति का निशाना बनाया गया है। इस प्रकार, कर्मचारी को पहले से अर्जित लाभों के किसी भी नुकसान का सामना नहीं करना पड़ता है। हम ऐसा इसलिए कहते हैं क्योंकि इस तरह के नियम की विशेषताओं का परीक्षण मकसद के आसपास या इसके कानून के पीछे अंतर्निहित इरादे पर केंद्रित नहीं है बल्कि, यह निवर्तमान कर्मचारी के खिलाफ इस तरह के नियम के संचालन के परिणाम और प्रभाव में निहित है। अनिवार्य सेवानिवृत्ति के ऐसे आदेश के बदले नियम सेवानिवृत्त कर्मचारी को किसी भी लाभ से वंचित नहीं करता है और इस प्रकार, अपने भविष्य के लिए सेवानिवृत्त कर्मचारी के खिलाफ कोई कलंक या कोई नागरिक परिणाम नहीं होता है। इसलिए, इस नियम का प्रयोग ***श्याम लाल*** (उपरोक्त) के दूसरे सुझाव से मेल खाता है जो अनिवार्य सेवानिवृत्ति के गैर-कलंकित आदेश में मुनाफे के किसी भी नुकसान पर विचार करता है| संक्षेप में, मात्र अनिवार्य सेवानिवृत्ति अनुच्छेद 311 (2) को आकर्षित नहीं करती। विधि के घोषित दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम ***दलीप सिंह बनाम पंजाब राज्य और भारत संघ एवं अन्य बनाम दुलाल दत्त*** को उपयोगी ढंग से संदर्भित कर सकते हैं|

35. इसे और मज़बूत करने के लिए हम ***श्याम लाल*** (उपरोक्त) के आदेश के तीसरे हिस्से पर आते हैं जो अनिवार्य सेवानिवृत्ति के न्यायसंगत आदेश में सजा के तत्व की अनुपस्थिति आवश्यक बनाता है| इस परीक्षा को शुरू करने के लिए, हम ***सत्यवीर सिंह और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य*** में निर्णय का एक संक्षिप्त हवाला देकर संगठन के कर्मचारियों को नियंत्रित करने वाले नियमों की सही योजना और प्रभाव को

उजागर करने को महत्वपूर्ण समझते हैं जिसमें इस न्यायालय ने केंद्रीय लोक सेवा (वर्गीकरण, नियंत्रण और अपील) नियम, 1965 (संक्षेप में "CCS (CCA) नियम) के नियम 19 के तहत दुराचार, अनुशासनहीनता, धमकी और अपमान के आधार पर अनुच्छेद 311 के तहत किसी भी जांच के बिना अनुच्छेद से जुड़े प्रावधानों की रोशनी में संगठन के दो कर्मचारियों को बर्खास्त कर दिया।" इस प्रकार, यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य विभागों की तरह इस संगठन के किसी कर्मचारी की बर्खास्तगी के मामले में भी, अनुच्छेद 311 के तहत प्रक्रिया के साथ CCS (CCA) नियम का सहारा लिया जा सकता है और आमतौर पर लेने की संभावना है| इसलिए, 1975 के नियमों के नियम 135 को अनिवार्य सेवानिवृत्ति के गैर-दंडात्मक प्रभाव क्षेत्र के साथ कड़ाई से निपटने के लिए एक विशेष प्रावधान के रूप में बनाया गया है और वह भी उप-नियम (1) के खंड (ए) और (बी) में निर्दिष्ट विशिष्ट परिस्थितियों में खुफिया अधिकारी के खिलाफ| जबकि, उपरोक्त चर्चा के अनुसार पदच्युति/निष्कासन/रैंक में कमी के मामले या सेवा की समाप्ति की कोई अन्य दंडात्मक कार्रवाई जिसमें कर्मचारी का कलंक शामिल है, को CCS (CCA) नियमों में अलग से शामिल किया गया है|

36. अप्रतिरोध्य निष्कर्ष यह है कि नियम 135 के तहत की गई किसी भी कार्रवाई के प्रभाव में कर्मचारी के लिए कोई दंडात्मक परिणाम शामिल नहीं है और इसलिए इसे बर्खास्तगी या निष्कासन की कार्रवाई के समान नहीं रखा जा सकता और इस नियम के तहत कार्रवाई करते समय किसी जाँच या सुनवाई के किसी अवसर की आवश्यकता नहीं है जैसा कि अनुच्छेद 311 के तहत परिकल्पित किया गया है| समान रूप से, यह ध्यान देने की ज़रुरत है कि भविष्य की कुछ करियर संभावनाओं का मात्र नुकसान अपने आप में अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश को अमान्य करने के लिए कोई आधार नहीं है। क्योंकि यह किसी मामले में किसी भी आदेश का अनिवार्य परिणाम हो सकता है। वैधानिक आदेश की अवैधता के दोष को आकर्षित करने के लिए जिस बात की

आवश्यकता है वो न्यायालय के विवेक को जागृत करने के लिए कम से कम एक न्यूनतम मानक की अवैधानिकता है। ***श्याम लाल*** (उपरोक्त) और ***शुभचंद एम दोशी*** (उपरोक्त) की व्याख्या प्रत्यक्ष रूप से लागू होगी।

37. दूसरी तरह से कहा जाए तो नियम 135 के तहत कार्रवाई अनुच्छेद 311 द्वारा नियंत्रित नहीं है और न ही यह उसका उल्लंघन है चूंकि ये दोनों प्रावधान अलग-अलग क्षेत्रों में काम करते हैं इस प्रकार इस नियम (1975 के नियमों का नियम 135) के अंतर्गत की गई कार्रवाई से पूर्व संविधान के अनुच्छेद 311 के तहत प्रदत्त सुरक्षा उपायों को करने की ज़रुरत नहीं है| क्योंकि नियम 135 के तहत कार्रवाई अलग है और संगठन सन्दर्भ में जनहित में विशिष्ट परिस्थितयों में और सरकार के प्रमुख द्वारा उच्चतम स्तर पर की जाती है इसलिए कानून के समान संरक्षण से इन्कार के कारण अनुच्छेद 14 के उल्लंघन का सवाल ही नहीं उठता।

38. इस नियम की संवैधानिकता का विरोध करते हुए, अपीलार्थी ने यह भी तर्क दिया है कि इस नियम को प्रतिनियुक्तगण पर लागू न करना भेदभावपूर्ण है और अनुच्छेद 14 का उल्लंघन है। आक्षेपित निर्णय में इस निवेदन को ख़ारिज करते हुए इस प्रकार टिपण्णी की गई:

> "किसी प्रतिनियुक्तगण की सेवाएँ विभाग के उस कर्मचारी जैसी नहीं होतीं जो इसके नियमों और शर्तों से बंधा है। यदि एक प्रतिनियुक्तगण काल्पनिक रूप से "उजागर" होता या "खुद को उजागर करता है" और उससे सुरक्षा खतरा पैदा होता है, तो निश्चित रूप से केंद्र सरकार अनिवार्य सेवानिवृत्ति सहित अन्य तंत्रों का सहारा ले सकते हैं: (बशर्ते कर्मचारी नियम 56 (जे) के तहत शर्तों को पूरा करे; यह भी सहारा हो सकता है- यदि कर्मचारी "घटना" के लिए दोषी है और तथ्य ऐसा न्यायसंगत ठहराते हैं तो अनुच्छेद 311 का आह्वान (2) (ग) का प्रयोग और तुरंत बर्खातागी या इसी प्रकार की सजा का सहारा लिया जायेगा| दूसरे अधिकारियों की इस नियम द्वारा नियंत्रित न होने की संभावना या कि अन्य मामलों में इसे लागू नहीं किया गया था, इसलिए, इसे मनमाना या अमान्य ठहराने का आधार नहीं हो सकता।"

39. प्रतिनियुक्तगण एक ऐसा कर्मचारी होता है जिसे उसके मूल विभाग की ओर से किसी अन्य विभाग को सौंपा गया है। कर्मचारियों की प्रतिनियुक्ति पर कानून पूर्ण रूप से स्थापित है। जहाँ तक अनुशासनात्मक नियंत्रण के मामले का संबंध है ***यूपी राज्य एवं अन्य बनाम राम नरेश लाल*** में इस न्यायालय ने टिप्पणी की है कि प्रतिनियुक्तगण अपने मूल विभाग के नियमों द्वारा नियंत्रित रहेगा और अपने मूल विभाग के अनुशासनात्मक नियंत्रण में माना जाता है जब तक कि स्थानान्तरिती विभाग में स्थायी रूप से शामिल न किया जाए। ***कुनाल नंदा बनाम भारत संघ एवं एक अन्य*** में यह भी टिपण्णी की गई कि प्रतिनियुक्ति का मूल सिद्धांत यह है कि संबंधित व्यक्ति हमेशा और किसी भी समय अपने मूल विभाग में वापस लाया जा सकता है। व्यक्ति को उसके मूल विभाग में वापस भेजकर सुरक्षा कारण सहित संगठन (अनुसंधान एवं विश्लेषण विंग) पर पड़ने वाले किसी भी प्रतिकूल प्रभाव को टाला जा सकता है| इसलिए, प्रतिनियुक्त संगठन/विभाग में सीधी भर्ती होने वाले उस व्यक्ति की तुलना में पूरी तरह से अलग है जो एक खुफिया अधिकारी के रूप में उजागर होता है या सुरक्षा के कारणों से संगठन में अनियोज्य हो जाता है। प्रतिनियुक्त को उसके मूल विभाग में वापस लाया जा सकता है और कदाचार के मामलों में, उसके मूल विभाग को नियंत्रित करने वाली सेवा की शर्तों के अनुसार उसके खिलाफ आवश्यक कार्रवाई भी की जा सकती है| उस अर्थ में, एक प्रतिनियुक्त और एक सीधी भर्ती होने वाले व्यक्ति को समान रूप से नहीं रखा जाता है और इस प्रकार उनके साथ होने वाले भेद-भावपूर्ण व्यवहार की दलील उपलब्ध नहीं है| इसमें भेदभाव शामिल नहीं होगा और न ही अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होगा। तदनुसार, हमें नियम 135 की संवैधानिक वैधता की चुनौती को नकारना ही होगा।

40. इस मोड़ पर हम यह भी उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं कि अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश से पहले 1975 के नियमों के नियम 135 के तहत जांच के उल्लेखित न होने का मात्र तथ्य, नियम की संवैधानिकता के खिलाफ नहीं जाता है।

इसके अतिरिक्त, नियम किसी भी जांच का निषेध नहीं करता है और अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश के समान है जिसमें निवर्तमान कर्मचारियों के इस तरह के निर्णय की प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार कानून में परिकल्पित नहीं है, क्योंकि इस तरह की कार्रवाई का अंतर्निहित आधार संगठन का व्यापक हित और सुरक्षा है; और कर्मचारी का कोई दोषी आचरण नहीं। इसके अलावा, नियम 135 एक ऐसी भाषा को शामिल करता है जो स्वरुप में स्वयं मार्गदर्शक है। "उजागर होना" और "सुरक्षा कारणों से अनियोज्यता" शब्दों का प्रयोग महत्वहीन नहीं है, बल्कि, वे इस तरह के आदेश को पारित करने में सक्षम प्राधिकारी के लिए सर्वोत्कृष्ट उत्तेजक के रूप में कार्य करते हैं। नियम 135 के तहत सुरक्षा कारणों से उजागर होना और कर्मचारी का अनियोज्य होना कैसे होता है इसका अनिवार्य निर्धारण एक पूर्व शर्त और सुरक्षा दोनों है, और उस संबंध में सक्षम प्राधिकारी की व्यक्तिपरक संतुष्टि की तह में शामिल है। अपनी संतुष्टि तक पहुंचने के लिए, प्राधिकारी अपने स्वयं के स्रोतों से जानकारी लेने के लिए स्वतंत्र है। इस प्रकार, ऐसे मामलों में जब नियम 135 के घटक व्याप्त परिस्थितियों के आलोक में संतुष्ट होते है तो जांच के माध्यम से संबंधित अधिकारी को अवसर देने की आवश्यकता समाप्त हो जाती है क्योंकि इस तरह की जाँच का अंतर्निहित उद्देश्य प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों या संबंधित अधिकारी की संतुष्टि नहीं है बल्कि यह संगठन के सक्षम प्राधिकारी को मामले कि अनुकूलता के संबंध में नियम को इस्तेमाल करने हेतु व्यक्तिपरक तरीके से खुद को संतुष्ट करने में सक्षम बनाने के लिए है| इसलिए निर्दिष्ट मामलों से निपटने का एक विशेष नियम होने पर प्रश्नगत संगठन की संरचना के संदर्भ में व्यापक जनहित में नियम 135 के अंतर्निहित प्रक्रिया को प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों की कठोरता से हिलाया नहीं जा सकता।

41. अनुच्छेद 309 के संदर्भ में चुनौती पर वापस लौटते हुए यह टिपण्णी करना पर्याप्त है कि 1975 के नियम अपीलार्थी को नियंत्रित करने वाली "सेवा की शर्तों" के तहत

आते हैं और संविधान के अनुच्छेद 309 के परंतुक के तहत बनाये गए हैं| वाक्यांश "सेवा की शर्तें" गणितीय परिशुद्धता का वाक्यांश नहीं है और इसको व्यापक अर्थ में समझा जाना चाहिए| "सेवा की शर्तें" वाक्यांश का प्राकृतिक, तार्किक और व्याकरणिक अर्थ में वेतन, भुगतान की समयावधि, वेतनमान, महंगाई भत्ता, निलंबन और यहां तक कि सेवा की समाप्ति से संबंधित शर्तों की एक व्यापक क्षेत्र शामिल है। अपीलार्थी का तर्क है कि चूंकि अनुच्छेद 311 में कर्मचारी की बर्खास्तगी, निष्कासन और पद में कटौती का क्षेत्र शामिल है इसका सवतः मतलब यह है कि यह मामले अनुच्छेद 309 से अलग हैं, हमारे हवाले नहीं करता|

42. अनुच्छेद 309 और 311 के संयुक्त पाठ से पता चलता है कि अनुच्छेद 311 उन मामलों तक ही सीमित है, जिनमें किसी कर्मचारी के खिलाफ जांच शुरू की गई है और दंडात्मक कार्रवाई किए जाने की मांग की गई है। जबकि, अनुच्छेद 309 में सेवा की शर्तों का व्यापक परिदृश्य शामिल है और अनुच्छेद 311 की तुलना में व्यापक आधार रखता है। इसमें मात्र बर्खास्तगी, निष्कासन, या पद में कमी के परे सेवा की शर्तें भी शामिल होंगी| यह बताना महत्वपूर्ण है कि अनिवार्य सेवानिवृत्ति सहित सेवा समाप्ति से संबंधित शर्तें अनुच्छेद 309 के तहत विचारित इस व्यापक आधार के प्रभावक्षेत्र में आते हैं| ***प्रदायत कुमार बोस बनाम माननीय कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश*** में इस न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 309 के दायरे और कार्यक्षेत्र को छुआ और यह व्याख्या की सेवा से बर्खास्तगी या निष्कासन के मामले अभिव्यक्ति "सेवा की शर्तें" के प्रभाव क्षेत्र में आते हैं|

43. हम आगे ध्यान दें कि आम तौर पर यह कहना सही है कि अनुच्छेद 309 के तहत बनाई गई सेवा की शर्तों को नियंत्रित करने वाले नियम अनुच्छेद 311 सहित संविधान के अन्य प्रावधानों के अध्यधीन हैं| अनुच्छेद 309 के के शुरुआती शब्द “इस संविधान

के प्रावधानों के अध्यधीन" उसी अनुरूपता की ओर इशारा करते हैं| हालाँकि, यह अध्याधीनता खंड अनिवार्य सेवानिवृत्ति को नियंत्रित करने वाले नियमों पर काम नहीं करेगा। क्योंकि उपरोक्त चर्चा के अनुसार अनिवार्य सेवानिवृत्ति की कानूनी अवधारणा सरकार का एक गैर-दंडात्मक उपाय है और अनुच्छेद 311 के संचालन से बिलकुल दूर है जब तक कि अनिवार्य सेवानिवृत्ति के रूप में निष्कासन या बर्काश्तागी का मामला नहीं है| अगर निष्कासन , बर्काश्तागी या पद में कमी का नियम होता, तो इसे अनुच्छेद 311 के तहत सुरक्षा उपायों द्वारा नियंत्रित किया जाता। ***उत्तर प्रदेश राज्य एवं अन्य बनाम बाबू राम उपाध्याय*** में यह भी टिपण्णी कि गई है कि किसी नियम की वैधता अनुच्छेद 311 से तभी प्रभावित होगी जब वह अनुच्छेद 311 द्वारा दी गई सुरक्षा को प्रभावित करना चाहे और अन्यथा नहीं जैसा कि वर्तमान मामले में है। 44. आइए अब 1975 नियम के नियम 135 के खिलाफ चुनौती के अगले आधार को संबोधित करते हैं|

44. अब हम 1975 के नियमों के नियम 135 के खिलाफ चुनौती के अगले आधार पर ध्यान देते हैं अर्थात नियम 135 में प्रयुक्त "सुरक्षा" और "उजागर होना" का व्यापक तात्पर्य है और उनका उपयोग नियम की अस्पष्टता और मनमानी के अवगुण को आकर्षित करता है। अपीलार्थी ने इस चुनौती को अस्पष्टता के आधार पर स्थापित करने के लिए ***करतार सिंह*** (उपरोक्त) के पूर्व उद्धृत उद्धरण पर भरोसा किया है|

45. यह संविधियों कि व्याख्या का स्थापित सिद्धांत है कि किसी क़ानून में इस्तेमाल किए जाने वाले शब्दों को उस विशेष क़ानून के आलोक में समझा जाना चाहिए और उससे अलग नहीं। नियम 135 में प्रयुक्त अभिव्यक्ति "सुरक्षा" है, जैसा कि अनुच्छेद 311 में आमतौर पर इस्तेमाल की जाने वाली अभिव्यक्ति "राज्य की सुरक्षा" से अलग है। नियम बनाने वाली संस्था द्वारा इस अभिव्यक्ति को व्यापक बनाना अभिव्यक्ति के पीछे समावेशी इरादे की ओर इशारा करता है। शब्द "सुरक्षा" शब्द "सुरक्षित" से

निकला है, लॉ लेक्सिकन के अनुसार जिसका अर्थ होता है किसी चीज़ को खतरे से परे रखना| यह समझा जाता है कि एक खुफिया अधिकारी का उजागर होना न केवल संगठन के लिए बल्कि संबंधित अधिकारी के लिए भी खतरनाक हो सकता है और इसलिए अभिव्यक्ति "सुरक्षा" को संगठनात्मक और व्यक्तिगत हितों को खतरे से परे सुरक्षित रखने के रूप में समझा जाना चाहिए और इसमें संगठन की सुरक्षा के साथ-साथ राज्य की सुरक्षा सीधे शामिल है। इसी तरह, अभिव्यक्ति "एक्सपोजर" इस ढंग से जनता के बीच एक ख़ुफ़िया अधिकारी के सार्वजनिक पहचान को संदर्भित करता है जो सुरक्षा कारणों से संगठन में ऐसे अधिकारी को अनियोज्य ठहरता है|

46. यह उल्लेखनीय है कि भारतीय संवैधानिक न्यायशास्त्र में विधिवत अधिनियमित कानून को तब तक अस्पष्टता के आधार पर निष्फल नहीं किया जा सकता जब तक कि इस तरह की अस्पष्टता मनमानी के दायरे में नहीं आती। ***नगरपालिका समिति, अमृतसर एवं अन्य बनाम पंजाब राज्य एवं अन्य*** में हम उपयोगी रूप से इस न्यायलय के सुझाव को संदर्भित कर सकते हैं| लेकिन अस्पष्टता के आधार पर नियम 135 को चुनौती तभी बरक़रार रखी जा सकती है अगर यह नियम उस स्थिति को जानने के लिए साधारण बुद्धि के व्यक्ति को उचित अवसर प्रदान नहीं करता है जिसमें नियम संचालित होगा। वर्तमान मामले में ख़ुफ़िया अधिकारी के रूप में संगठन में कार्यरत सदस्य के दृष्टिकोण से समझदार व्यक्ति का पैमाना लागू होगा| संगठन में कार्यरत सदस्य, और विशेष रूप से प्रथम श्रेणी के ख़ुफ़िया अधिकारी को "एक खुफिया अधिकारी के रूप में उजागर", "संगठन में अनियोज्य" या "सुरक्षा का कारण" की अभिव्यक्ति के कार्य क्षेत्र, विशिष्ट सन्दर्भ और तात्पर्य को जानना चाहिए| संगठन में कार्यरत सदस्य एक ख़ुफ़िया अधिकारी के रूप में पहचान उजागर होने के अंतरराष्ट्रीय दुष्परिणाम से निश्चित रूप से अवगत होगा| इसलिए नियम की असंवैधानिकता के अवगुण को आकर्षित करने के लिए उपरोक्त अभिव्यक्तियों के उपयोग में कोई

अंतर्निहित अस्पष्टता या मनमानीपन नहीं है| लेकिन इस नियम के तहत शक्ति का प्रयोग करने के कार्यपालिका के कार्य से मन्मनिपन की बू अति है के नहीं यह एक अलग-अलग मामले के आधार पर अलग से पड़ताल का विषय है और न्यायालय द्वारा सामान्य घोषणा आवश्यक नहीं है। अंत में इस आधार पर चुनौती खारिज की जाति है और इसलिए समझा जाता है कि इस आक्षेपित निर्णय में इस चुनौती का सही जवाब दिया जा चूका है| लेकिन नियम 135 की संवैधानिकता के संबंध में उच्च न्यायालय के आदेश को बरकरार रखने के बावजूद, हमारा विचार है कि उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में "सुरक्षा" की अभिव्यक्ति का जो अर्थ बताया है उसका व्यापक तात्पर्य है| सुरक्षा को खतरा किस बात से होगा कि नियम 135 का इस्तेमाल किया जाए, इस संबंध में आक्षेपित आदेश के पैराग्राफ 65 में इस प्रकार टिपण्णी की गई है|

> "..... इसलिए, यदि किसी विशेष मामले में, अनुसंधान एवं विश्लेषण विंग का कोई भी सदस्य ऐसे व्यवहार में लिप्त होता है जिससे उसके समग्र मनोबल के भंग होने की संभावना है या यह असंतोष की ओर ले जाता है तो यह उसकी सुरक्षा के लिए खतरा बन सकता है।"

47. हम मानते हैं कि यह टिप्पणी "सुरक्षा के कारणों" या सुरक्षा खतरा के कारण की अभिव्यक्ति के उपयोग के वास्तविक दायरे की ओर हमारा मार्गदर्शन नहीं करती है और नियम 135 के दरवाज़े अपरिकल्पित क्षेत्रों की ओर खोलता है| इस प्रकार, यह टिप्पणी हमारे द्वारा नियम 135 की अब तक व्याख्या के अलोक में समाप्त हो जाएगी और किसी भी उदहारण के उद्देश्यों के लिए, या अन्यथा प्रभावी नहीं होगी।

<u>अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश की वैधता</u>

48. नियम 135 की संवैधानिक वैधता की चुनौती का नकारात्मक जवाब देने और अनिर्वार्य रूप से सेवानिवृत्त करने की शक्ति के अस्तित्व के सवाल का निपटारा करने के बाद हम अगली समस्या के निर्धारण पर आते हैं क्या वर्तमान मामले की वास्तविक स्थिति में प्रत्यर्थीगण द्वारा अनिवार्य सेवानिवृत्ति की शक्ति का उपयोग न्यायसंगत एवं

विधि-सम्मत है| अपीलार्थी के अनुसार, प्रत्यर्थीगण ने दुर्भावनापूर्ण तरीके से कार्रवाई की है और अपने वरिष्ठों (अधिकारियों) की नाजायज मांगों को पूरा करने से इंकार के कारण नियम 135 का प्रयोग अपीलार्थी के अत्याचार का कार्य है| अपीलारथी ने यह भी तर्क दिया है कि अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त करने की शक्ति का प्रयोग केवल एफआर 56 (जे) के अनुसार किया जा सकता है।

49. आक्षेपित निर्णय में अपीलार्थी की दलीलों का जवाब निम्न शब्दों में दिया गया है:-

> "78. इसलिए, अगर लोक कर्मचारी की सेवाओं की आवश्यकता उन कारणों से समय से से पहले समाप्त हो जाती हैं जो संबंधित संस्था के सेवा नियमों, नियम और शर्तों के लिए उप्तुक्त हों और दुर्भावनापूर्ण न हों या किसी भी गंभीर प्रक्रियात्मक असंगति से ग्रस्त न हों तो न्यायलय फैसले में हस्तक्षेप नहीं करेंगे| इस मामले की परिस्थितियों को इस परिप्रेक्ष में देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत संघ के उच्च स्तर पर यानी कैबिनेट सचिव, PMO और कानून एवं न्याय मंत्रालय के स्तर पर, विभिन्न विकल्पों को तलाश किया गया। ऐसा नहीं है कि नियम 135 को इस्तेमाल करने का विकल्प सरकार द्वारा तलाश किया गया एकमात्र विकल्प था। नोटिंग्स से पता चलता है कि प्रधानमंत्री ने सभी दृष्टिकोणों से निर्णय के प्रभाव पर विचार करना चाह था| जाहिर है, कर्मचारी/अधिकारी यानी प्रार्थी के साथ-साथ समग्र रूप से सेवा पर प्रभाव की चिंता भी थी। गौरतलब है कि शशि प्रभा समिति की सिफारिशों में प्रतिकूल टिप्पणी के देखने के बाद प्रधानमंत्री भी चाहते थे कि सभी सरकारी स्तरों पर शिकायत तंत्रों की त्वरित शुरुआत सुनिश्चित की जानी चाहिए। कैबिनेट सचिव की एक नोटिंग में केंद्रीय सिविल सेवा (पेंशन) नियम, 1972 के नियम 9 के तहत सचिव स्तर के अनुसंधान एवं विश्लेषण विंग के सेवानिवृत्त प्रमुख श्री त्रिपाठी के खिलाफ अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का विकल्प सुझाया। अभिलेख पर मौजूद इन सभी तथ्यों और सामग्रियों को देखते हुए यह नहीं माना जा सकता कि सरकार ने इसे अपरिहार्य विकल्प यानी नियम 135 लागू करने के विकल्प के रूप में चुनने के लिए दुर्भावनापूर्ण तरीके से काम किया।"

<u>शक्ति के दुर्भावनापूर्ण प्रयोग के संबंध में</u>

50. बाद नियति के दावे का समर्थन करने के लिए ***बैकुंठ नाथ दास और एक अन्य बनाम मुख्य जिला चिकित्सा अधिकारी, बारीपदा और एक अन्य*** पर भी यह ज़ोर देते हुए भरोसा किया गया है कि अनिवार्य सेवानिवृत्ति का निर्णय विस्तृत औपचारिक प्रक्रिया के तहत और पिछले प्रदर्शन के रिकॉर्ड के अलोक में किया जाना चाहिए|

51. स्पष्ट रूप से विधि-शासन द्वारा नियंत्रित समाज में, शासन व्यवस्था में बाद नियति या मनमानी की उपस्थिति सामाजिक व्यवस्था के मूलभूत मूल्यों पर प्रहार करती है। सरकार के तीन अंगों सहित प्रत्येक सार्वजनिक अधिकारी, सदाशायी, अदूषित और उचित ढंग से अपने कार्यों का निर्वहन करने के लिए बाध्य हैं| शक्ति का दुर्भावनापूर्ण प्रयोग दर असल शक्ति के साथ खिलवाड़ है| शक्ति के दुर्भावनापूर्ण प्रयोग से संबंधित विधि पूर्ण रूप से स्थापित है जो बहुत सारे मामलों में पाए जाते हैं| बाद नियति के दाग़ से दूर रहने के लिए शक्ति के प्रयोग हेतु इस तरह कि शक्ति प्रदान करने वाली संविधि/विधि के दायरे में प्रयोग किया जाना चाहिए। कोई भी इस्तेमाल जो विधि द्वारा स्थापित सीमा को लांगता है; या इस तरह के इस्तेमाल के प्रति असंगत या अप्रासंगिक कारकों से प्रेरित है; या दुर्भावनापूर्ण इरादे या व्यक्तिगत दुश्मनी द्वारा निर्देशित; या जिससे मन्मनिपन कि दुर्गन्ध आए तो वह कानून कि नज़र में निरस्त मन जायेगा| ***एस प्रताप सिंह बनाम पंजाब राज्य, एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स प्राइवेट। लिमिटेड और अन्य। बनाम भारत संघ और अन्य, जे.डी. श्रीवास्तव बनाम मध्य प्रदेश राज्य एवं अन्य,*** और ***जयचंद लाल सेठिया बनाम पश्चिम बंगाल राज्य*** में इस न्यायलय द्वारा लगातार इस कानूनी दृष्टिकोण की व्याख्या कि गई है| वर्तमान मामले में तथ्य की स्थिति उपर्युक्त कारकों में से किसी को भी आकर्षित नहीं करती है।

52. विशेष रूप से अपीलार्थी ने उन संबंधित व्यक्तियों को पक्षकार प्रत्यर्थी नहीं बनाया हैं जिनके खिलाफ दुर्भावना के आरोप लगाये गए हैं| इसलिए, उन आरोपों को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है। हम ***पुरुषोत्तम कुमार झा बनाम झारखंड राज्य*** एवं अन्य की व्याख्या पर उपयोगी ढंग से ध्यान देते हैं जो शक्ति के दुर्भावनापूर्ण इस्तेमाल के आरोप से निमटते हुए विधि के उक्त दृष्टिकोण को निम्न शब्दों में दर्ज करता है:-

> "22. शक्ति के दुर्भावनापूर्ण इस्तेमाल के संबंध में उच्च न्यायालय ने माना कि न तो पर्याप्त विवरण अभिलेख पर रखे गए और न ही अधिकारियों को

पक्षकार प्रत्यर्थीगण के रूप में शामिल किया गया, ताकि उन्हें जवाबी हलफनामा दायर करके स्थिति को स्पष्ट करने में सक्षम बनाया जा सके। विशिष्ट सामग्री के अभाव और अधिकारियों की अनुपस्थिति में, न्यायालय इस दलील को बरकरार नहीं रखने में सही था कि यह कार्रवाई दुर्भावनापूर्ण थी। ”

परिणामस्वरूप दुर्भावनापूर्ण कार्रवाई का आधार वास्तव में विचार के लिए नहीं बचता|

<u>बुद्धि प्रयोग न करने के सम्बन्ध में</u>

53. बुद्धि के प्रयोग न करने की चुनौती का विश्लेषण करने हेतु हम प्रासंगित घटनाक्रम के पता लगाने को उपयुक्त समझते है ताकि कार्यवाहियों की कड़ी को समझा जा सके |

तिथि	घटना
01.02.2007 – 31.01.2009	श्री अशोक चतुर्वेदी सचिव (आर), मंत्रिमंडल सचिवालय, भारत सरकार बन गए और 31.01.2009 तक इस पद पर रहे	
03.08.2007	अपीलार्थी नई दिल्ली मुख्यालय में निर्देशक के रूप में पद स्थापित थी	
07.08.2007	अपीलार्थी ने यौन उत्पीडन की शिकायत की	
26.10.2007	अपीलार्थी ने श्री अशोक चतुर्वेदी, सचिव (आर) के विरुद्ध प्रधानमंत्री कार्यालय में लिखित शिकायत की	
12.11.2007	अपीलार्थी ने निर्देशक, ट्रेनिंग इंस्टिट्यूट (प्रशिक्षण संस्था), गुडगाँव के रूप में ज्वाइन किया	
08.08.2008	अपीलार्थी के अनुचित बर्ताव, अनधिकृत संवाद, आपत्तिजनक सन्देश, मीडिया आदि से संपर्क के सम्बन्ध में संस्था को बहुत सारी शिकायतें प्राप्त हुई और सचिव (आर) द्वारा प्रारंभिक जाँच का आदेश दिया गया	श्री ए.के. अर्नी ने जाँच की और अपीलार्थी ने सूचना मिलने पर भी जाँच में शामिल होने से इन्कार कर दिया	
19.08.2008*	प्रारंभिक जाँच की सूचना अपीलार्थी को दी गयी जो प्रधानमंत्री कार्यालय की घटना का कारण बना और राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मीडिया में इसकी व्यापक कबरेज हुई	
10.09.2008 – 11.09.2008	प्रारंभिक जाँच में पाया गया कि अपीलार्थी के खिलाफ अधिकांश आरोपों में दम था और जे.एस. (एस ए) को दिनांक 09.10.2008 को रिपोर्ट सौप दी गयी जिन्होंने दिनांक 11.09.2008 को इसे सचिव (आर) को सौप दिया	
22.09.2008**	अपीलार्थी की अनिवार्य सेवा निवृति का प्रस्ताव सचिव (आर) द्वारा रखा गया	
04.04.2009	अनुच्छेद 311 के तहत जाँच के बिना सेवा निवृति किये जाने की अपनी आशंका के सम्बन्ध में अपीलार्थी ने सचिव (पी.जी. एवं समन्वय) श्री अजीत सेठ को पत्र लिखा	
17.04.2009	संयुक्त सचिव (प्रशिक्षण) के कार्यालय में चिल्लाने, वस्त्र उतारने आदि की घटना	
18.04.2009**	प्रधानमंत्री कार्यालय में निदेशक श्री के. एस. अचर द्वारा अपीलार्थी के विरुद्ध नियम 135 के प्रयोग हेतु प्रस्ताव	
05.05.2009**	अपीलार्थी के विरुद्ध किसी दूसरी कार्यवाही की संभावना का पता लगाने हेतु बैठक की अध्यक्षता राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार एवं प्रधानमंत्री के मुख्य सचिव ने की	बैठक इस नतीजे पर पहुचीं कि नियम 135 सबसे उचित विकल्प था	
11.05.2009**	अनिवार्य सेवा निवृति के प्रस्ताव पर त्वरित निर्णय हेतु सचिव (आर) का मंत्रिमंडल सचिव से अनुरोध	
13.05.2009**	नियम 135 के अंतर्गत अनिवार्य सेवा निवृति का सुझाव देते हुए मंत्रिमंडल सचिवालय द्वारा प्रधानमंत्री कार्यालय को गुप्त नोट भेजा गया	
27.07.2009*	सर्वोच्च न्यायालय परिसर में अपीलार्थी द्वारा कपडे फाड़ने की घटना	

03.10.2009 & 13.10.2009**	निरंतर सनकी व्यवहार के कारण अपीलार्थी की अनिवार्य सेवा निवृति के प्रस्ताव पर शीघ्र निर्णय हेतु सचिव (आर) द्वारा मंत्रिमंडल सचिव से अनुरोध किया गया।
13.11.2009**	ट्रेनिंग कैंपस में निर्देशक के घर में अपीलार्थी द्वारा जबरदस्ती प्रवेश के सम्बन्ध में सूचना देते हुए सचिव (आर) का का मंत्रिमंडल सचिव से संवाद।
26.11.2009*	अपीलार्थी ने केन्द्रीय प्रशासन अधिकरण में आत्म हत्या का प्रयास किया।
07.12.2009**	प्रस्ताव पर शीघ्र निर्णय हेतु सचिव (आर) द्वारा एक और अनुरोध।
16.12.2009	अनिवार्य सेवा निवृति के अनुमोदन पर प्रधानमंत्री कार्यालय का मंजूरी से अवगत करने वाला संवाद।
18.12.2009	राष्ट्रपति के नाम से मंत्रिमंडल सचिवालय द्वारा अनिवार्य सेवा निवृति का आदेश जारी किया गया।

* उजागर होने की घटनाएँ ** प्रकियात्मक कदम

54. वर्तमान मामले के तथ्यपरक पैमाने के मद्देनज़र, हम उपर्युक्त श्रृंखला से कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं को उत्कीर्ण करना उचित समझते हैं। घटनाओं के उपर्युक्त अनुक्रम में आंतरिक संचार की कड़ी का पता चलता है जिसके बाद दिनांक 18.12.2009 का आदेश अंततः पारित किया गया। सचिव (आर) द्वारा P.M.O को भेजा गया दिनांक 11.5.2009 का गुप्त नोट, 21.7.2009 के पत्र द्वारा भारत के तत्कालीन सॉलिसिटर जनरल की राय, कानूनी मामलों के विभाग, केंद्रीय कानून और न्याय मंत्रालय की राय और पीएमओ नोट जिसमें नियम 135 के आह्वान को एकमात्र व्यवहार्य विकल्प के रूप में निर्धारित किया गया था ये सब एक साथ जाँच की एक सम्पूर्ण कड़ी बनती है जो अनिवार्य सेवानिवृत्ति के सवाल पर प्रत्यर्थीगण द्वारा बुद्धि के उचित इस्तेमाल को दर्शाता है| यह स्थापित विधि है कि न्यायिक समीक्षा का दायरा अनिवार्य सेवानिवृत्ति के मामलों में बहुत सीमित है और बुद्धि के उनुप्योग या दुर्भावना जैसे सिमित आधार पर स्वीकृति योग्य है| ***प्यारे मोहन लाल बनाम झारखंड राज्य और अन्य*** पर ध्यान दिया जा सकता है| उक्त ऊपर-उद्धृत घटनकरम इतना स्पष्ट है कि हमारे पास यह कहने के अलावा कोई और निष्कर्ष नहीं बचता कि अनिवार्य सेवानिवृत्ति की कार्रवाई नयसंगत विकल्प थी। यह समझना कि कोई दूसरा विकल्प भी संभाव था, यह नहीं समझता कि अपीलार्थी को अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त करने का सक्षम

प्राधिकारी का निर्णय अप्रासंगिक, दुर्भावनापूर्ण, विकृत, अनुचित या मनमाने विचारों से प्रेरित था। बुद्धि के उचित इस्तेमाल की पूर्व-शर्त पूरी होती दिख रही है क्यूंकि 22.9.2008 से 18.12.2009 तक 15 महीनों के दौरान संगठन और पीएमओ के बीच चर्चा, आदान-प्रदान और परामर्श की श्रृंखला के बाद निर्णय हुआ है।

55. इसके अलावा, अपीलार्थी के खिलाफ 8.8.2008 से शुरू होने वाली प्रारंभिक जांच, घटनाओं की श्रृंखला में एक महत्वपूर्ण बिल्डिंग ब्लॉक बनाती है और हमारे ध्यान चाहती है। साथी अधिकारियों द्वारा अपीलार्थी के खिलाफ की गई शिकायतों की एक श्रृंखला के बाद इस जांच का आदेश दिया गया था। इस तरह की शिकायतें दुर्व्यवहार, अनधिकृत संचार, अश्लील एसएमएस, मीडिया संपर्क आदि से संबंधित हैं। इस जांच की सूचना 19.8.2008 को (पीएमओ घटना के दिन) अपीलार्थी को दी गई थी, और जांच में उसे शामिल होने के लिए कहा गया था| लेकिन अपीलर्थी ने भाग लेने से इन्कार कर दिया जो जांच की एकपक्षीय रिपोर्ट का कारण बना और इसमें यहा निष्कर्ष सामने आया कि अपीलर्थी के खिलाफ अधिकांश आरोप की पुष्टि होती है। यह रिपोर्ट 11.9.2008 को सचिव (आर) को सौंपी गई| और रिपोर्ट मिलने के 11 दिन बाद अपीलार्थी के खिलाफ नियम 135 के इस्तेमाल का पहला प्रस्ताव सचिव (आर) द्वारा 22.9.2008 को किया गया। उक्त कार्रवाइयों कि निरंतरता बुद्धि के उनुप्योग के आरोप को छुटलाती है क्यूंकि ऐसा लगता है कि अभिलेख पर मौजूद सामग्री के अलोक में कड़ाई से प्रस्ताव पेश किया गया|

56. इस प्रकार, वर्तमान मामले में अपीलार्थी सामग्री वस्तुगत रूप से बुद्धि के अनुप्रयोग के तथ्य को स्थापित नहीं कर सका और विशेष रूप से क्योंकि जनता तथा विशेष रूप से मीडिया में अपीलार्थी के उजागर होने की क्रमिक घटनाओं के सामने आने के बाद सरकार के प्रमुख द्वारा उच्चतम स्तर पर अंतिम निर्णय लिया गया है। दूसरे शब्दों में,

अगर हम अपीलार्थी और तत्कालीन सचिव (आर), श्री अशोक चतुर्वेदी के बीच व्यक्तिगत दुश्मनी के तर्क को स्वीकार भी कर लें, तो भी यह अपीलार्थी के मामले में सहायक नहीं हो सकता क्यूंकि अनिवार्य सेवानिवृत्ति के निर्णय पर अंतिम अधिकार पीएमओ के पास था और पीएमओ में तत्कालीन सचिव (आर) द्वारा प्रभाव के इस्तेमाल के संबंध में कोई सबूत नहीं है। इस प्रकार के आरोप में, असल पूर्वाग्रह को प्रमाण द्वारा साबित करने की आवश्यकता है और कानून की यह आवश्यकता इस मामले में उत्पन्न थाथ्प्परक दृष्टिकोण से समर्थन हासिल करने में विफल है।

57. ऐसा कहने के बाद हम उच्चतम स्तर पर लिए गए निर्णयों और संवैधानिक चुनौती की जांच करने में न्यायालय के दृष्टिकोण पर बल देना आवश्यक समझते हैं| व्यवस्था के उच्च स्तर पर की गई कार्रवाई के पक्ष में वास्तव में वैधता का कोई सवतः सिद्ध तर्क नहीं हो सकता| लेकिन पीएमओ जैसे संवैधानिक कार्यालयों को पवित्र संविधान के माध्यम से भारत की जनता द्वारा संवैधानिक विश्वास सौंपा गया है। इस तरह का संवैधानिक विश्वास अपने भीतर एक अंतर्निहित अपेक्षा को समाहित करता है कि इस तरह के पदाधिकारियों से उत्पन्न होने वाली कार्रवाइयाँ जनहित और संवैधानिक औचित्य के सद्भावनापूर्ण विचारों से प्रेरित होती हैं। संवैधानिक अनुप्रयोग की अवधारणा के रूप में संवैधानिक भरोसे को बहुत सारे निर्णयों में इस न्यायालय द्वारा विधिवत रूप से स्वीकार किया गया है। ***मनोज नरूला बनाम भारत संघ*** में पांच न्यायाधीशों की एक पीठ ने इस प्रकार टिपण्णी की:-

> "92. दशकों पहले एडमंड बर्क ने जो कहा था उसे दोहराने कि ज़रूरत है:
>
> > "सत्ता रखने वाले सभी व्यक्तियों को इस विचार से दृढ़ता और गंभीरता से प्रभावित होना चाहिए कि वे भरोसे की बदौलत काम करते हैं और उस विश्वास में अपने आचरण के लिए एक महान स्वामी के प्रति जवाबदेह है, समाज के लेखक और संस्थापक|"
>
> 93. AIR 1951 SC 332 के सन्दर्भ में दिल्ली विधि अधिनियम 1912 में इस न्यायलय ने यह मत व्यक्त किया कि संवैधानिक विश्वास का सिद्धांत हमारे

संविधान पे लागू होता है क्यूंकि यह प्रतिनिधिक लोकतंत्र का आधार डालता है| न्यायालय ने आगे कहा कि तदनुसार विधानमंडल को अपने प्राथमिक कर्तव्य अर्थात कानून के निर्धारण को त्यागने की अनुमति नहीं दी जा सकती है| भले ही यह विधायी शक्ति के प्रयोग के संदर्भ में कहा गया, फिर भी वर्तमान संदर्भ में इसका अभिप्राय है क्यूंकि किसी भी प्रतिनिधिक लोकतंत्र में, **संवैधानिक विश्वास के सिद्धांत की परिकल्पना हर उच्च संवैधानिक अधिकारी में की जानी चाहिए।**"

(बल दिया गया)

ऐसे पदाधिकारियों पर किया गया संवैधानिक विश्वास ***रा.रा.क्षे. दिल्ली सरकार बनाम भारत संघ और किहोता होलोहन बनाम जचिलहू और अन्य*** में भी प्रतिबिंबित किया गया है जिसमें इस न्यायालय ने दसवीं अनुसूची के तहत शक्तियों का प्रयोग करते हुए संसद के सदनों के अध्यक्ष/सभापति के पदों में जताए गए संवैधानिक विश्वास के संदर्भ में इस प्रकार टिपण्णी की:

"ञ] वह तर्क कि न्यायिक कार्यों का अध्यक्ष/सभापति को देने के अधिकार का संस्कार स्वयं में ही राजनैतिक पक्षपात की सम्भावना के आधार पर प्रावधान का दुरूपयोग होगा अनुचित है और ख़ारिज किया जाता है| संसदीय लोकतान्त्रिक प्रणाली में अध्यक्ष/सभापति प्रमुख भूमिका निभाते हैं और सदन के अधिकार एवं विशेषाधिकार के रक्षक हैं| उनसे आशा की जाती है कि वे संसदीय लोकतंत्र के कार्यों में महत्वपूर्ण निर्णय लेंगे| दसवीं अनुसूची के तहत मामलों पर निर्णय करने की शक्तियों का ऐसे अधिकारी को दिया जाना अपवादात्मक नहीं समझा जाना चाहिए|"

<u>मौलिक नियम 56 (जे) और पेंशन नियमों के नियम 9 के बारे में</u>

58. अगली पड़ताल पीआर 56 (जे) के अनुसार कार्रवाई में विफलता के आरोप से संबंधित है। सामान्य बोल-चाल में लोक सेवक की अनिवार्य सेवानिवृत्ति एफआर 56 (जे) में निर्धारित प्रक्रिया द्वारा नियंत्रित होती है क्यूंकि मौलिक नियम 2 में यह प्रावधान है कि "मौलिक नियम उन सभी सरकारी करमचारियों पर लागू होते हैं, जिनका वेतन सिविल अनुमानों विकलनीय हो और सरकारी कर्मचारियों के किसी भी अन्य वर्ग पर लागू होता है जिसके लिए राष्ट्रपति सामान्य या विशेष आदेश द्वारा, उन्हें लागू करने की

घोषणा कर दें|" इस प्रकार, एफआर 56 (जे) सामान्य रूप से लागू होने वाला नियम है| इस तर्क का विश्लेषण करने के लिए, इस नियम के प्रासंगिक हिस्से को पुनः प्रस्तुत करना आवश्यक है जो निम्न प्रकार है:

> ""**एफ.आर. 56 (जे)** इस नियम में कुछ भी सम्मिलित होने के बावजूद, यदि उपयुक्त प्राधिकारी की यह राय है कि ऐसा करना जनहित में है, तो उसे किसी भी सरकारी कर्मचारी को 55 साल का होने के बाद न्यूनतन तीन महीने का लिखित नोटिस देकर सेवानिवृत्त करने का पूर्ण अधिकार होगा...|"

59. यह स्पष्ट है कि एफआर 56 (जे) में दोहरा तत्व शामिल है- प्रथम यह कि किसी कर्मचारी को सेवानिवृत्त करने का सरकार का पूर्ण अधिकार और दूसरा यह कि वह विशिष्ट परिस्थिति जिसमें इस तरह के अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है अर्थात सार्वजनिक हित की आवश्यकता। इस नियम में निवर्तमान कर्मचारी को न्यूनतन तीन महीने की पूर्व सूचना का प्रावधान है| दूसरी ओर 1975 के नियमों का नियम 135 इस व्यवस्था से अलग है। यह प्रश्नगत संगठन में गुप्तचर अधिकारियों के समूह से संबंधित विशेष प्रावधान है| एफआर 56 (जे) और नियम 135 के बीच मौलिक अंतर क्रमशः "सार्वजनिक हित" और "सुरक्षा" उक्तियों के उपयोग में निहित है। सुरक्षा का मुद्दा विशेष प्रावधान में विशेष स्थान रखता है जो सुरक्षा कारणों से लागू होता है| दूसरी ओर, एफआर 56 (जे) आम तौर पर सार्वजनिक हित के संदर्भ में है। एफआर 56 (जे) के अस्तित्व के दौरान 1975 में बनाए गए नियम 135 को एक विशेष प्रावधान के रूप में उकेरा गया था| यह उल्लेख करना उचित है कि नियम 135 किसी कर्मचारी को अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त करने के लिए सरकार के निहित अधिकार की उपस्थिति की पहचान करता है और ऐसी कार्रवाई करने के लिए कुछ विशेष आधारों का स्पष्ट रूप से उल्लेख करता है। इसलिए, नियम 135 एफआर 56 (जे) से सुविचारित अंतर प्रस्तुत करता है और इसके लागू होने की पूर्व शर्त के रूप में "उजागर होने" एवं सुरक्षा कारणों से "अनियोज्यता" की विशेष परिस्थितयां शामिल हैं| निश्चित रूप से, नियम 135

में संगठन के खुफिया अधिकारी की अनिवार्य सेवानिवृत्ति की सभी परिस्थितियों और मामले समाहित नहीं है। क्यूंकि इसमें वर्णित स्थितियों से परे इसकी कोई उपयोगिता नहीं है| अतः अनिवार्य सेवानिवृत्ति को न्यायसंगत ठहराने वाली अन्य सभी स्थितियां (नियम 135 में शामिल नहीं) जनहित के संदर्भ में एफआर 56 (जे) द्वारा नियंत्रित होती रहेंगी। इस प्रकार, नियम 135 एक विशेष प्रावधान है और एफआर 56 (जे) में निर्धारित आधार और प्रक्रिया से स्वतंत्र होकर संचालित होता है। दूसरे शब्दों में, जब नियम 135 के घटक संतुष्ट हो जाते हैं, तो अनुच्छेद 309 के अर्थ के भीतर, नियम 135 संगठन के खुफिया अधिकारी की 'सेवा की शर्त' के रूप में सक्रिय हो जाएगा और एक सामान्य प्रावधान होने के नाते, एफ आर 56 (जे) को जनहित में नियम 135 में निर्धारित सीमा से आगे के आधार पर लागू किया जा सकता है। इस प्रकार, एफआर 56 (जे) जैसे सामान्य प्रावधान को विशेष प्रावधान (नियम 135) के रूप में जगह देनी चाहिए, जैसा कि ***एस सी जैन बनाम हरियाणा राज्य और एक अन्य*** में उल्लेखित है।

60. एफआर 56 (जे) में निर्धारित प्रक्रियात्मक मानकों से संकेत लेते हुए अपीलार्थी ने जोर दिया कि नियम 135 को लागू करने में प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का पालन न करने से दिनांक 18.12.2009 का अंतिम आदेश मनमाना हो गया। यद्यपि हम पहले ही स्पष्ट शब्दों में कह चुके हैं कि 1975 के नियमों का नियम 135 प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों की कठोरता से बाध्य नहीं हैं, हम यह जोड़ना आवश्यक समझते हैं कि कार्यपालिका के सभी निर्णयों में प्राकृतिक न्याय एक सर्वव्यापी पूर्व शर्त नहीं है और इसकी प्रयोज्यता की सीमा असंख्य स्थितियों में भिन्न होती है। ***न्यू प्रकाश ट्रांसपोर्ट कंपनी लिमिटेड बनाम न्यू सुवर्णा ट्रांसपोर्ट कंपनी लिमिटेड*** में इस न्यायालय ने संक्षेप में प्राकृतिक न्याय के नियमों की निरपेक्षता/निरंकुशता के खिलाफ टिप्पणी की और कहा कि इस तरह के नियम मामले के तथ्यों को नियंत्रित करने वाले अलग-अलग सांविधिक नियमों के साथ भिन्न होते हैं| विशिष्ट सांविधिक नियमों के आलोक में ऐसे

सिद्धांतों के अपवाद पर बोलते हुए, इस न्यायालय ने ***भारत संघ बनाम कर्नल जे.एन. सिन्हा और एक अन्य*** में ***एके कृपाक और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य*** को अनुमोदन के साथ उद्धृत करते हुए इस प्रकार टिप्पणी की:-

> "8. ...यह सच है कि यदि प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के साथ सांविधिक प्रावधान को पढ़ा जा सकता है, तो न्यायालयों को ऐसा करना चाहिए क्योंकि यह माना जाना चाहिए कि विधानमंडल और सांविधिक प्राधिकारी प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के अनुसार कार्य करने का इरादा रखते हैं| लेकिन अगर दूसरी ओर विशेष रूप से या आवश्यक निहितार्थ द्वारा सांविधिक प्रावधान प्राकृतिक न्याय के किसी भी या सभी सिद्धांतों के इस्तेमाल को शामिल नहीं करता है तो न्यायालय विधायिका या सांविधिक प्राधिकारी के अधिकार की अनदेखी नहीं कर सकता और प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के संबंधित प्रावधान का मतलब नहीं निकाल सकता है। क्या प्राकृतिक न्याय के किसी भी सिद्धांत के अनुसार प्रदत्त शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए या नहीं, यह शक्ति प्रदान करने वाले प्रावधान के व्यक्त शब्दों, प्रदत्त शक्ति के स्वरुप , जिस उद्देश्य के लिए इसे प्रदान किया जाता है और उस शक्ति के प्रयोग के प्रभाव पर निर्भर करता है|"

संभवतः प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का बुद्धिरहित विस्तार न्याय के स्वभाव के खिलाफ होगा। ***मेनका गांधी बनाम भारत संघ एवं एक अन्य*** के पश्चात् युग के बहुत सारे निर्णय में इसे दोहराया गया है| ***प्रबंध निदेशक, ईसीआईएल, हैदराबाद और अन्य बनाम बी करुणाकर और अन्य*** में इस न्यायालय ने ***मेनका*** (उपरोक्त) के बाद के दृष्टिकोण को इस प्रकार संक्षेप में प्रस्तुत किया:-

> "20. कानून की उत्पत्ति का प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों से पता लगाया जा सकता है, जैसा कि निम्नलिखित मामलों में प्रकट हुआ है: एके कृपाक बनाम भारत संघ, (1969) 2 एससीसी 262 में यह माना गया कि किसी भी कानून द्वारा कवर नहीं किए गए क्षेत्रों में प्राकृतिक न्याय के नियम संचालित होते हैं। वे देश के कानून को समाप्त करने की बजाये उनकी कमी पूरी करते हैं| वे सन्निहित नियम नहीं हैं और उनका उद्देश्य न्याय देना या घोर अन्याय को रोकना है| यदि यह उनका उद्देश्य है, तो कोई कारण नहीं है कि उन्हें प्रशासनिक कार्यवाही पर लागू नहीं किया जाए, खासकर उस समय जब अर्ध न्यायिक जाँच से प्रशासनिक पूछताछ को अलग करने वाली रेखा खींचना आसान न हो। प्रशासनिक जांच में अन्यायपूर्ण निर्णय अर्ध-न्यायिक जांच में निर्णय की तुलना में कहीं अधिक प्रभावी हो सकता है। यह भी टिपण्णी की गई कि हाल के

वर्षों में प्राकृतिक न्याय की अवधारणा में काफी बदलाव आया है। किसी विशेष मामले में प्राकृतिक न्याय का कौन सा विशेष नियम लागू होना चाहिए, यह बहुत हद तक उस मामले के तथ्यों एवं परिस्थितियों, उस कानून के ढाँचे जिसके तहत जांच होती है और अधिकरण के गठन / या उस उद्देश्य के लिए नियुक्त व्यक्तियों के निकाय पर निर्भर करेगा| जब भी किसी न्यायालय के समक्ष यह शिकायत की जाती है कि प्राकृतिक न्याय के कुछ सिद्धांत का उल्लंघन हुआ है, तो न्यायालय को यह तय करना होगा कि उस मामले के तथ्यों पर न्यायसंगत निर्णय के लिए उस नियम का पालन आवश्यक था या नहीं। अब यह नियम कि जांच सद्भाव से और पूर्वाग्रह के बिना और मनमाने ढंग से या अनुचित रूप से नहीं होनी चाहिए, प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों में शामिल है।

21. *अध्यक्ष, खनन परीक्षा बोर्ड बनाम रामजी, (1977) 2 एससीसी 256* में न्यायालय ने यह टिपण्णी की है कि प्राकृतिक न्याय कोई अनियंत्रित घोड़ा नहीं है, न ही कोई घात में बैठी बारूदी सुरंग , न ही कोई न्यायिक इलाज| कार्रवाई का निशाना बनाये गए व्यक्ति, रूप, विशेषता और प्रत्येक स्थिति के तथ्यों और परिस्थितियों पर आश्रित और इस तरह के आवश्यक प्रक्रियात्मक शुद्धता के मूल तत्व के प्रति अगर निर्णय लेने वाला निष्पक्षता दिखाता है तो प्राकृतिक न्याय के उल्लंघन की शिकायत नहीं की जा सकती। **किसी भी मामले की प्रशासनिक वास्तविकताओं और अन्य कारकों के संदर्भ के बिना प्राकृतिक न्याय का अप्राकृतिक विस्तार क्षोभकारी हो सकता है। अदालतें कानून को सामान्य तरीके से या प्राकृतिक न्याय को कलाकृति मात्र के रूप में नहीं देख सकतीं न ही वे उचित अवसर की अवधारणा को ठोस ढाँचे में फिट कर सकते हैं। यदि न्यायालय परिस्थितयों की सम्पूर्णता से संतुष्ट है कि प्रतिकूल आदेश से दण्डित पक्ष उचित अवसर से वंचित नहीं रहा है, तो न्यायालय ज़रुरत से अधिक परिशुद्ध या कट्टर नहीं होगा मानो प्राकृतिक न्याय के नियम पवित्र शास्त्र थे।**

22. *इंस्टिट्यूट ऑफ़ चार्टर्ड एकाउंटेंट्स ऑफ़ इंडिया बनाम एल.के. रत्ना, (1986)4 SCC 537, चरण लाल साहू बनाम भारत संघ , (1990) 1 एस सी सी 613 (भोपाल गैस लीक डिजास्टर केस) एवं सी.बी. गौतम बनाम भारत संघ, (1993) 1 एस सी सी 78,* में सिद्धांत कि कानून के अनधिकृत अंतराल में प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत अवश्य लागू किए जाने चाहिए जब तक कि इसके विपरीत कोई , को दोहराया गया है|"

(बल दिया गया)

61. 1975 के नियमों का नियम 135 खुफिया अधिकारी के उजागर होने की परिस्थितियों में लागू होता है और ऐसे खुफिया अधिकारी की पहचान उजागर होने से संगठन भी बहुत ज़्यादा प्रतिकूल ढंग से उजागर होता है और उचित ढंग से प्रश्नगत

संगठन की सत्यनिष्ठा पर दीर्घकालिक प्रभाव सहित लज्जाजनक सुरक्षा चूक के तौर पर सामने आ सकता है| जिन परिस्थितयों में नियम 135 लागू होता है उनमें तात्कालिकता का अर्थ शामिल है| निर्विवाद रूप से जाँच में शामिल होने के नाम पर संगठन में उजागर अधिकारी की निरंतर मौजूदगी से संस्थागत तथा राष्ट्रीय सुरक्षा हित खतरे में पड़ जाएंगे| यह उजागर करना हम आवश्यक समझते हैं कि उजागर अधिकारी की जानकारी या मिलीभगत के बिना भी ऐसा परिणाम सामने आ सकता है| इस तरह उजागर होने से संबंधित कथन मात्र से किसी भी रूप में ऐसे अधिकारी पर कलंक या दोष नहीं मढ़ा जाता| नियम 135 ज़रूरी निहितार्थों के ज़रिए इन सिद्धांतों के अनुपालन को स्पष्ट रूप से ख़ारिज करता है| दूसरे शब्दों में प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का कड़ाई से पालन इस विशेष प्रावधान को बनाने के उद्देश्य को ही समाप्त कर सकता है| हम ***एक्स-आर्मीमेनज प्रोटेक्शन सर्विसेज प्राइवेट लिमिटेड बनाम भारत संघ एवं अन्य*** की व्याख्या को उपयोग ढंग से संदर्भित कर सकते हैं जिस में इस प्रकार टिपण्णी की गई है:

> "16. राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में क्या है? यह कानून का सवाल नहीं, नीति का विषय है। कोई चीज़ राज्य के हित में है या नहीं यह तय करना न्यायलय का काम नहीं| इसे कार्यपालिका पर छोड़ देना चाहिए| गृह विभाग के *राज्य सचिव बनाम रहमान, (2003) 1 एसी 153* में लॉर्ड हॉफमैन को उद्धृत किया गया है:
>
> > "...राष्ट्रीय सुरक्षा के मामले में कानून का सवाल नहीं है। यह निर्णय एवं नीति का मामला है| ब्रिटेन और अधिकांश अन्य देशों के संविधान के तहत कोई चीज़ राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में है या नहीं, इस संबंध में निर्णय न्यायिक निर्णय का मामला नहीं है | इसकी ज़िम्मेदारी कार्यपालिका पर है|"
>
> "17. **इस प्रकार, राष्ट्रीय सुरक्षा की स्थिति में, पक्षकार प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के सख्त पालन पर जोर नहीं दे सकता| ऐसे मामलों में मतलब निकालना और सांविधिक छूट प्रदान करना न्यायलय की ज़िम्मेदारी है यदि क्षेत्र को नियंत्रित करने वाले नियम सुस्पष्ट नहीं हैं|** लेकिन मामला विशेष के तथ्यों पर निर्भरता जताते हुए खुद को संतुष्ट करना न्यायालय के ऊपर होगा कि न्यायोचित तथ्य हैं कि नहीं तथा उस संबंध में न्यायालय को फाइल माँगा कर देखने का अधिकार है कि क्या यह मामला

ऐसा है जिसमें राष्ट्रीय सुरक्षा हित शामिल है| जब राज्य का यह पक्ष हो कि मामले में राष्ट्रयी सुरक्षा शामिल है तो न्यायालय प्रभावित पक्ष को कारण नहीं बताएगा|"

(बल दिया गया)

62. ग़ौरतलब है कि वर्तमान मामले में अनिवार्य सेवानिवृत्ति का आदेश सरकार के उच्चतम स्तरों 8.8.2008 से शुरू होने वाली प्रारंभिक जांच की श्रृंखला के बाद (उपरोक्त अनुसार) हुआ था और हमारी राय में इस तरह की प्रारंभिक जाँच उचित है क्यूंकि प्रारंभिक जांच के बाद ही सक्षम प्राधिकारी किसी विशेष मामले में निर्धारित आधार के अस्तित्व के बारे में खुद को संतुष्ट कर सकता है। हमारा बार-बार यह भी कहना है कि इस तरह की जांच में संबंधित अधिकारी की भागीदारी अनिवार्य सेवानिवृत्ति के विधिशास्त्र से संबंधित मूलतत्व या प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के कठोर पालन द्वारा अनिवार्य नहीं है। इस तरह के सिद्धांतों को संगठन या राज्य की सुरक्षा के कारणों को सीमाबद्ध करने वाले व्यापक जनहित को खतरे में डालकर मुफ्त सवारी की पेशकश नहीं की जा सकती है। कई बार कठोर होने के बावजूद, विचाराधीन नियम के अस्पष्ट प्रावधान विधायी आशय के खिलाफ न्यायिक रचनात्मकता के किसी भी तत्व को प्रभावित करने के लिए कोई स्थान नहीं देते हैं (***राजस्थान राज्य बनाम लीला जैन एवं अन्य*** तथा ***श्री नसीरुद्दीन बनाम राज्य परिवहन अपीलीय अधिकरण*** देखें) हम मानते हैं कि 1975 के नियमों के नियम 135 में पूर्व सूचना या प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का पालन करने की किसी आवश्यकता को शामिल नहीं किया गया है।

<u>पेंशन दावा के संबंध में</u>

63. अपीलार्थी ने विभिन्न बिन्दुओं पर पेंशन नियमों के संदर्भ में उच्च न्यायालय के समक्ष सेवानिवृत्ति के आदेश का विरोध किया था लेकिन इस अपील द्वारा अपीलार्थी ने केवल निम्नलिखित प्रश्न उठाया है:

> "(बी) सीसीएस (पेंशन) नियम, 1972 के नियम 9 (1) के तहत, क्या भारत का राष्ट्रपति किसी अन्य प्राधिकरण के कर्मचारी की पेंशन को संशोधित करने के लिए अपनी शक्ति को सौंप सकता है? ज़ाहिर है भारत के राष्ट्रपति इस शक्ति को नहीं कर सकते| इसका मतलब यह है कि जहां किसी कर्मचारी की पेंशन को संशोधित किया जाना है, उसका निर्णय राष्ट्रपति द्वारा मामले के आधार पर लिया जाना है| संभवतः नियम 135 जैसा एक सामान्य नियम नहीं हो सकता है जो सीसीएस (पेंशन) नियम, 1972 की अनदेखी कर कर्मचारियों के किसी खास समूह की पेंशन को नियंत्रित कर सकता है| नियम 135 का अस्तित्व वास्तव में एक ऐसा मामला है जहां अपनी मर्ज़ी से रॉ अधिकारियों को हटाने के लिए रॉ के कुछ अधिकारियों ने शक्ति अपने हाथों में ले ली|"

64. यह प्रश्न 10.5.2010 के आदेश से उत्पन्न हुआ है, जिसके ज़रिये प्रत्यर्थीगण ने पूर्ण पेंशन के बजाय अपीलार्थी को अनंतिम पेंशन दी। अपीलार्थी का तर्क है कि इस आदेश के परिणामस्वरूप अपीलार्थी के अंतिम पेंशन और उसके अनंतिम पेंशन के हिस्से को पेंशन नियमों के नियम 9 द्वारा निर्धारित मार्ग को अपनाए बिना रोक दिया गया था। यह भी निवेदन किया गया है कि नियम 135 के खंड (2) (4) सेवानिवृत्त अधिकारी के पेंशन प्रावधानों से अलग हैं और पेंशन नियमों के नियम 9 (1) का उल्लंघन हैं जिसके तहत केवल भारत के राष्ट्रपति मामले के आधार पर ऐसी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। इसलिए, 1975 के नियम का नियम 135 खराब है और इन्हें बरकरार नहीं रखा जा सकता।

65. प्रत्यर्थीगण का तर्क था कि पेंशन नियमों का नियम 9 अपीलार्थी के मामले पर लागू नहीं होता है और यह प्रावधान केवल उस कर्मचारी पर लागू होगा जो किसी विभागीय या न्यायिक कार्यवाही में सेवा की अवधि के दौरान कदाचार या लापरवाही का दोषी पाया गया हो| इस प्रकार प्रत्यर्थीगण का तर्क है कि पेंशन का अनुदान 1975 के नियमों के नियम 135 के प्रावधानों के अनुसार न्यायपूर्वक किया गया था।

66. प्रतिद्वंद्वी प्रतिविरोध की पड़ताल करने के लिए, हम पहले नियम 9(1) पर ध्यान देना उचित समझते हैं जो इस प्रकार है:

"9. पेंशन रोकने अथवा वापस लेने का राष्ट्रपति का अधिकार।

(1) राष्ट्रपति स्वयं को पेंशन या ग्रेच्युटी, या दोनों, पूर्ण या आंशिक रूप से रोकने अथवा पूर्ण या आंशिक रूप से स्थाई तौर पर या विशेष अवधि के लिए पेंशन वापस लेने और सरकार को हुई किसी भी आर्थिक क्षति के पूरे या कुछ हिस्से की पेंशन या ग्रेच्युटी से वसूली का आदेश देने का अधिकार अपने पास सुरक्षित रखते हैं यदि किसी विभागीय या न्यायिक कार्यवाही में, पेंशनभोगी को सेवानिवृत्ति के बाद दोबारा नियोज्यता पर दी गई सेवा सहित सेवा की अवधि के दौरान गंभीर कदाचार या लापरवाही का दोषी पाया जाता है:

.....

....."

67. अपीलार्थी यह प्रति विरोध करने में सही हो सकती है कि किसी अधिकारी का पेंशन रोकने या वापस लेने की शक्ति नियम 9 द्वारा सीमित है | यह स्थापित विधि है कि नियम 9 के तहत पेंशन में परिवर्तन की शक्ति का प्रयोग विभागीय अथवा न्यायिक कार्यवाही करने के पश्चात् कर्मचारी के खिलाफ कदाचार या लापरवाही के नतीजे पर पहुँचने के अध्याधीन है | इस न्यायालय में ***डी.वी. कपूर बनाम भारत संघ एवं अन्य*** में इस प्रकार टिपण्णी की है:-

"8. समझा जाता है कि पूर्ण या आंशिक रूप से स्थायी तौर पर अथवा किसी विशेष अवधी के लिए पेंशन रोकने का अधिकार राष्ट्रपति के पास सुरक्षित है अथवा न्यूनतम के अध्यधीन सरकारी कर्मचारी द्वारा सरकार को होने वाली किसी भी आर्थिक क्षति के पूरे या कुछ हिस्से की पेंशन से वसूली की जा सकती है| पूर्व शर्त यह है कि किसी भी विभागीय जाँच अथवा न्यायिक कार्यवाही में पेंशन भोगी को उसकी मूल सेवा अथवा दुबारा नियोजता की अवधी के दौरान कदाचार या लापरवाही का दोषी पाया जाए| उसकी शर्त यह है कि यह निष्कर्ष होना चाहिए कि दोषी कार्यालय में सार्वजानिक कर्तव्य को अंजाम देने में कदाचार अथवा लापरवाही का दोषी है जैसा कि नियम 8(5) में परिभाषित है, स्पष्टीकरण (ख) जो एक समावेशी परिभाषा है अर्थात कार्यक्षेत्र किसी विशेष मामले में तथ्यों और परिस्थियों पर निर्भर व्यापक संकेत है | चालाकी पर निर्भर बहुत सारी परिस्थिति उत्पन्न होती है जिससे कदाचार या अनियमता को अंजाम दिया जाता है | 'गंभीर कदाचार अथवा लापरवाही' शब्दों के प्रभाव क्षेत्र और अर्थ की जाँच करना आवश्यक नहीं है और किन परिस्थियों के तहत इस संबंध में निष्कर्षों को सिद्ध माना गया है | यह काफी है कि इस मामले में आरोप यह है की लन्दन स्थित भारतीय उच्च आयोग से विदेश मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली कार्यालय में स्थानान्तरण के बाद ड्यूटी पर नहीं जाने में अपीलार्थी अड़ियल कदाचार की दोषी थी| जाँच अधिकारी

ने पाया की भले ही अपीलार्थी ने ड्यूटी पर जाने के अपने कर्तव्य में लापरवाही की है लेकिन इस कारणवश वे अटल नहीं थें कि अपने पत्नी की बीमारी के कारण वो नहीं जा सके और उन्होंने सहानुभूति दिखाते हुए अपीलार्थी को मामले पर विचार करने की सिफारिश की और राष्ट्रपति ने इस निष्कर्ष को स्वीकार कर लिया लेकिन संघीय लोक सेवा आयोग के परामर्श से ग्रेच्युटी एवं पेंशन के भुगतान को रोकने का फैसला किया |

9. जैसा कि देखा गया राष्ट्रपति द्वारा शक्ति का प्रयोग पूर्व शर्त से बधा हुआ है कि विभागीय जाँच अथवा न्यायिक कार्यवाही में यह निष्कर्ष दर्ज होना चाहिए कि आरोपी पेंशनभोगी ने पद पर रहते हुए अपने कर्तव्यों के पालन में गंभीर कदाचार अथवा लापरवाही की हो | ऐसे किसी निष्कर्ष के आभाव में सजा के तौर पर पूर्ण अथवा आंशिक रूप से स्थायी तौर पर अथवा किसी विशेष अवधी के लिए पेंशन रोकने या न्यूतम 60 रूपये के अध्याधीन कर्मचारी के पेंशन से पूर्ण या आंशिक रूप से आर्थिक क्षति की वसूली का आदेश देने का राष्ट्रपति के पास कोई कानूनी अधिकार नहीं है |"

68. नियम 9 का उद्देश्य भारत के राष्ट्रपति में घटाने/परिवर्तन की निहित शक्ति द्वारा किसी कर्मचारी के पेंशन भोगी अधिकार को अतिरिक्त संरक्षण प्रदान करना है | लेकिन यह एक सामान्य नियम है न कि व्यापक उपयोग का अतिमहत्वपूर्ण प्रावधान| संविधान के अनुच्छेद 309 के अंतर्गत बनाया गया यह नियम अपने विशिष्ट क्षेत्र में लागू होता है और नियम 135 जैसे अन्य विशेष नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता | संक्षेप में यह नियम (नियम 9) 1975 के नियमों के नियम 135 को नियंत्रित नहीं करता और नहीं कर सकता है जो अनुच्छेद 309 से अपना स्वतंत्र प्राधिकार प्राप्त करता है | चूंकि दोनों नियम अनुच्छेद 309 से उत्पन्न होते हैं इसलिए एक नियम की अवैधानिकता का प्रश्न इस तर्क पर आधारित नहीं हो सकता कि यह पेंशन के एक ही विषय से सम्बंधित होने के बावजूद एक दूसरे नियम से अलग काम करता है | उपरोक्तानुसार नियम 135 के अंतर्गत शक्ति का प्रयोग करते हुए अनिवार्य सेवा निवृति की कार्यवाही जिन मामलों में की गयी उनमे कर्मचारी के खिलाफ कदाचार अथवा लापरवाही के किसी भी निष्कर्ष की कल्पना उसी रूप में मौजूद नहीं | यह विभागीय अथवा न्यायिक कार्यवाही से पहले नहीं किया गया | नियम 135 एक विशेष व्यवस्था के रूप में एक अलग ढंग से

निष्कासन एवं निष्कासन के पश्चात् लाभ के कुछ खास पहलू ओं को समाहित अपने आप में एक पूर्ण संहिता है और सामान्य प्रावधानों से कम किसी दूसरे नियम द्वारा नियंत्रित नहीं होती| नियम 135 तथा नियम 9 के बीच कोई अतिव्यापन नहीं है |

69. अपीलार्थी को पेंशन देने के संबंध में, अपीलार्थी अक्षरशः तः नियम 135 के खंड (2) (4) के तहत सभी लाभों का हकदार होगा। आक्षेपित निर्णय में प्रत्यर्थीगण को अपीलार्थी के विभिन्न लाभों को सुरक्षित करने का निर्देश दिया गया है, जिसमें 2023 में अनुमानित सेवानिवृत्ति की तारीख के अनुसार पदोन्नति और पेंशन की तारीख का निर्धारण भी शामिल है। प्रत्यर्थीगण द्वारा उस निर्देश को हमारे समक्ष चुनौती नहीं दी गई है। नियम 135 के तहत सेवानिवृत्त कर्मचारी की पेंशन को अनुमानित सेवानिवृत्ति की तारीख के अनुसार निर्धारित किया जाना है, न कि वास्तविक सेवानिवृत्ति की तारीख के अनुसार। यह, हमारे विचार में, नियम के लाभकारी, संतुलित और सुरक्षात्मक दृष्टिकोण को दर्शाता है क्योंकि यह सुरक्षा (संगठन या राज्य) और निवर्तमान कर्मचारी के व्यक्तिगत हित सहित सार्वजनिक हित के प्रतिस्पर्धी विचारों से निपटने का प्रयास करता है। इस प्रकार, हम प्रत्यर्थीगण को खंड (2) (4) में निहित अनुबंध और विशेष रूप से उच्च न्यायालय द्वारा अपीलार्थी को दिए गए लाभ को अक्षरशः और सही संकल्प के साथ पालन करने का निर्देश देते हैं यदि पहले से ऐसा नहीं किया गया।

70. हमारा ध्यान उच्च न्यायालय द्वारा आक्षेपित आदेश के ज़रिये अपीलार्थी की सेवानिवृत्ति की तारीख 18.12.2009 से 31.12.2012 के स्थगन आदेश पर आकर्षित किया है। आदेश संभवतः न्याय हित में पारित किया गया है, जैसा कि आक्षेपित निर्णय के परिच्छेद 79 से स्पष्ट है, जिसमें उच्च न्यायालय ने इस प्रकार अंकित किया है:

> "79... साथ ही साथ, इस मामले की विशिष्टता और परिस्थितियां प्रार्थी सुश्री भाटिया को भी राहत का पात्र बनती हैं..."

आक्षेपित निर्णय में इस तरह के स्थगन का आदेश देने के लिए कोई अन्य तर्क दर्ज नहीं किया गया है। हम मामले की अजीब परिस्थितियों के प्रति सचेत हैं, हालांकि, हमें उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए उपाय पर आपत्ति है क्योंकि यह नियम 135 के प्रभाव क्षेत्र से परे है| अनिवार्य सेवानिवृत्ति का आदेश भारत के राष्ट्रपति के नाम से पारित किया गया था, जिसका प्रासंगिक हिस्सा इस प्रकार है:-

> "...इसलिए, रॉ (आरसी एंड एस) नियम, 1975 के नियम 135 में निहित प्रावधानों के अनुसार, सुश्री निशा प्रिया भाटिया को अनिवार्य रूप से सरकारी सेवा से **तत्काल प्रभाव से सेवानिवृत्त किया जाता है**।"
>
> (बल दिया गया)

71. अनिवार्य रूप से किसी अधिकारी को सेवानिवृत्त करने का निर्णय विशुद्ध रूप से मौजूद परिस्थितियों के मद्देनजर कार्यपालिका का कार्य है। न्यायालय द्वारा जांच इस बात की परीक्षा तक सीमित है कि क्या इस तरह का आदेश दुर्भावनापूर्ण अथवा असंगत विचारों से प्रेरित है| जब इस तरह के आदेश को पूरी तरह से अदालत में बरकरार रखा जाता है, जैसा कि उच्च न्यायालय ने सही किया है तो इस तरह के आदेश के तकनीकी पहलू ओं को बदलने या संशोधित करने का कोई सवाल ही नहीं है जिसमें वह तारीख भी शामिल है जिससे इसे प्रभावी होना चाहिए। "तत्काल प्रभाव" शब्दों के उपयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनिवार्य सेवानिवृत्ति का आदेश तुरंत प्रभावी होना था और ऐसे आदेश की तारीख न्यायिक समीक्षा की शक्ति का प्रयोग करने की आड़ में न्यायालय द्वारा स्थगित नहीं की जा सकती। बिना किसी कानूनी आधार के ऐसा करने से घृणित परिणाम हो सकता है और निर्णय के निष्कर्ष के सिद्धांत को खतरे में डालने सहित जटिल मुद्दे में बदल सकता है। यदि हम यह मान भी लें कि न्यायालय ने इस पर एक न्यायसंगत उपाय के रूप में विचार किया, तो हमारा विचार है कि सेवानिवृत्ति की तारीख को स्थगित किए बिना भी इसे हासिल किया जा सकता था। 1975 के नियमों के

नियम 135 के उप नियम (2) में स्पष्ट रूप से अनुमानित सेवानिवृत्ति की तारीख के अनुसार पेंशन के आकलन के साथ साथ अर्जित पदोन्नति का प्रावधान है। हालाँकि इस मामले के विचित्र तथ्यों में इस दृष्टिकोण के प्रति हमारी अस्वीकृति के बावजूद, सेवानिवृत्ति की तारीख के स्थगन के संबंध में उच्च न्यायालय के आदेश को संशोधित नहीं करेंगे क्योंकि प्रत्यर्थीगण द्वारा इसका विरोध नहीं किया गया है और इसके बजाय बिना आपत्ति के इसका अनुपालन किया गया है।

72. हमें प्रत्यर्थीगण द्वारा सूचित किया गया है कि सेवानिवृत्ति के स्थगन के आदेश के बदले, परिणामी लाभ पहले ही अपीलार्थी को हस्तांतरित कर दिए गए हैं। इसलिए, हम यह स्पष्ट करते हैं कि स्थगन आदेश के संबंध में हमारी टिप्पणियां उच्च न्यायालय के आदेश के संदर्भ में अपीलार्थी को पहले से ही हस्तांतरित लाभों को प्रभावित नहीं करेंगी, और उस संबंध में अतिरिक्त भुगतान की अपीलार्थी से कोई वसूली नहीं होगी। मामले की अजीब-व-गरीब परिस्थितियों के प्रति सचेत होने के नाते, हम उसके लिए बहाली का कोई आदेश देने के इच्छुक नहीं हैं।

73. अपीलार्थी ने संगठन में सेवारत अधिकारियों की पेंशन नियमों की प्रयोज्यता से संबंधित निर्णयों पर भरोसा किया है| अपीलार्थी का यह प्रतिविरोध पेंशन नियमों की तुलना में 1975 के नियमों के नियम 135 की प्रयोज्यता के कार्य क्षेत्र की अनदेखी करता है। पेंशन नियमों के नियम 2 (एच) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उक्त नियम (पेंशन नियम)उन व्यक्तियों पर लागू नहीं होंगे, जिनकी सेवा के नियम और शर्तें तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य कानून द्वारा या उसके तहत संचालित होती हैं। नियम 135, जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, संगठन में सेवारत अधिकारियों को नियंत्रित करने वाली सेवा की शर्तों का भाग गठित करता है और इस प्रकार, नियम 135 में शामिल क्षेत्र में पेंशन नियम लागू नहीं होंगे। हालाँकि नियम 135 के दायरे के बाहर आने वाले

क्षेत्र सीसीएस नियमों के अनुसार नियंत्रित होंगे और जरूर होने चाहिए जैसा कि पेंशन नियमों के नियम 69 के तहत अपीलार्थी के अनंतिम पेंशन को मंजूरी देने वाले दिनांक 10.05.2010 के विभागीय आदेश में दोहराया गया है | इस प्रकार दोनों के बीच कोई टकराव नहीं है।

74. इस मुद्दे पर चर्चा समाप्त करने से पहले नियम 135 के खंड (2) (4) के संबंध में दो चिंताओं को दूर करना हम अपने ऊपर अनिवार्य समझते हैं | प्रथम, खंड (2) (4) में "सकता" अभिव्यक्ति के प्रयोग का तात्पर्य और दूसरे अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त अधिकारियों को नियम की प्रति की अनुपलब्धता।

75. यह आधारभूत है कि पेंशन कर्मचारी का एक बहुमूल्य सांविधिक अधिकार है और सरकार की मंशा अथवा खुशी द्वारा नियंत्रित नहीं होता है।

इसके लिए स्पष्ट अपवादों के अभाव में, उसके वंचन में परिणत होने वाले किसी भी प्रावधान की सख्त न्यायिक पड़ताल होनी चाहिए | ***डीएस नाकारा एवं अन्य बनाम भारत संघ*** में इस न्यायालय द्वारा कानून के इस दृष्टिकोण की संक्षेप में व्याख्या की गई है जो इस प्रकार है:

> '20. पेंशन की पूर्व निर्धारित धारणा कि नियोक्ता की इच्छा या कृपा के आधार पर एक ऐच्छिक इनाम के रूप में दावा न करने योग्य और इसलिए, न्यायालय के माध्यम से पेंशन का कोई अधिकार लागू नहीं किया जा सकता है को ***देवकी नंदन प्रसाद बनाम बिहार राज्य*** (1971)2 SCC 330 में संविधान पीठ के निर्णय द्वारा दबा दिया गया है जिसमें इस न्यायालय ने आधिकारिक रूप से फैसला सुनाया कि पेंशन एक अधिकार है और इसका भुगतान सरकार के विवेक पर निर्भर नहीं करता है, लेकिन नियमों द्वारा नियंत्रित है और उन नियमों के भीतर आने वाला कोई सरकारी कर्मचारी पेंशन का दावा करने का हकदार है। आगे यह कहा गया कि पेंशन का अनुदान किसी के विवेक पर निर्भर नहीं करता है। यह केवल सेवा और अन्य संबद्ध मामलों के संबंध में राशि को निर्धारित करने के उद्देश्य से है यह कि प्राधिकारी के लिए इस आशय का आदेश पारित करना आवश्यक है परन्तु किसी अधिकारी को पेंशन प्राप्त करने का अधिकार ऐसे आदेश के कारण नहीं परन्तु नियमों के आधार पर दिया जाता है। इस दृष्टिकोण की

पंजाब राज्य बनाम इकबाल सिंह (1976)2 एससीसी 1 में पुन:
पुष्टि की गई"

76. वास्तव में, 1975 के नियमों के नियम 135 के खंड (2) और (3) यह दर्शाते है कि इस नियम के तहत अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त कर्मचारी को पेंशन का अनुदान अभिव्यक्ति "सकता है" से पहले है। यह धारणा देता है कि निवर्तमान कर्मचारी को पेंशन का अनुदान सक्षम प्राधिकारी के विवेक के अध्याधीन है। इस प्रावधान में अभिव्यक्ति "सकता है" को जिस परिस्थिति में रखा गया है उसे "होगा" ही पढ़ा जाय| नही तो, यह तर्क दिया जा सकता है कि नियम 135 के तहत अनिवार्य सेवानिवृत्त अधिकारी को पेंशन लाभ से वंचित किया जा सकता है। इसके परिणामस्वरुप न केवल नियम 135 में संदर्भित आकस्मिक स्थिति के कारण संबंधित कर्मचारी की नौकरी जाएगी बल्कि वह अपने आजीविका के स्रोत से भी वंचित हो जाएगा (भले ही उसके खिलाफ कार्यवाही दीवानी परिणाम से प्रभावित नहीं करना है)। वास्तव में, नियम 135 को संबंधित कर्मचारी के खिलाफ कार्यवाही के स्वरुप में लाभकारी, संतुलित और सुरक्षात्मक प्रावधान के रूप में ढाला गया है। हम इस नियम को इस तरह से संचालित करने की अनुमति देने के लिए अत्यधिक विसंगत पाते हैं ताकि किसी अधिकारी को पेंशन लाभ से वंचित करने की गुंजाइश छोड़ दी जा सके जो संगठनात्मक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपनी इच्छा के बिना सेवानिवृत्त कर दिया गया है। विशेष रूप से एक विशेष प्रावधान होने के नाते यह नियम संबंधित अधिकारी के न्यूनतम आयु अथवा सेवा की अवधि को निर्धारित नहीं करता और स्थिति की आवश्यकताएं सेवा की अल्पावधि के भीतर भी इस नियम के प्रयोग की मांग कर सकती हैं। ऐसी परिस्थितियों में, संगठन की अखंडता के संदर्भ में जनहित के कारण अपनी गलती के बिना बेदखल किए जाने वाले ऐसे अधिकारी के पेंशन के सांविधिक अधिकार को दरकिनार करना निरर्थक एवं वास्तव में, संविधान के तहत मौलिक अधिकारों का हनन होगा |

77. हम इस तथ्य से सावधान हैं कि अनुच्छेद 33 के तहत संसद द्वारा बनाए गये गुप्तचर संगठन (अधिकार पर रोक) अधिनियम, 1985, खुफिया अधिकारियों पर इसके प्रयोग के सम्बन्ध में भाग 3 द्वारा प्रदत्त कुछ अधिकारों पर अंकुश लगता है । लेकिन, यह संघ बनाने के अधिकार, बोलने की स्वतंत्रता आदि के संबंध में प्रतिबंधों तक सीमित है और किसी अधिकारी की आजीविका के अधिकार पर अंकुश लगाने के लिए अपने दायरे को नहीं बढ़ाता, वह भी तब जब अधिकारी को नियम 135 के तहत अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त किया जा रहा हो | यह उक्त कानून का उद्देश्य और मंशा नहीं हो सकती थी। यहां तक कि पेंशन नियमों में, नियम 40 एकमात्र प्रावधान है जो अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त अधिकारी की पेंशन को विवेकाधीन "सकता है" प्रावधान के अध्याधीन करता है। लेकिन, यह नियम तब लागू होता है जब दंड के रूप में उक्त सेवानिवृत्ति का आदेश दिया जाता है और इस प्रकार, यह 1975 के नियमों के नियम 135 की तुलना में एक अलग पायदान पर खड़ा है जो अधिकारी के आचरण से जुड़ा नहीं है और न ही इसका कोई दीवानी या फौजदारी परिणाम होता है |

78. अब तक यह अच्छी तरह से स्थापित हो चुका है कि विधायिका द्वारा अधिनियमित प्रावधान के माध्यम से प्राप्त किये जाने वाले उद्देश्य को प्रभावी करना और उसकी निष्फलता को रोकना न्यायालय का कर्तव्य है। इस कर्तव्य को पूरा करने के लिए व्याख्या के स्थापित मापदंड इस न्यायालय को “सकता है” और “होगा” के प्रावधानों के प्रयोग के वास्तविक अर्थ की जांच करने में सक्षम बनाते हैं, जैसा कि इस न्यायालय द्वारा ***डीके बसु बनाम पश्चिम बंगाल एवं अन्य राज्य में दोहराया गया है|***

> "13. *सरदार गोविंद राव बनाम मध्य प्रदेश राज्य, AIR 1965 SC 1222* से शुरू हुई इस न्यायालय के निर्णयों की एक लंबी पंक्ति ने तर्क की उपरोक्त पंक्ति का पालन किया है और आधिकारिक रूप से कहा है कि शब्द “हो सकता है” या “करेगा” का उपयोग अपने आप से जरूरी नहीं है कि एक निर्देशिका और दूसरा अनिवार्य है, लेकिन, जिस संदर्भ में उक्त अभिव्यक्तियाँ हैं योजना के रूप में भी उपयोग किया

गया है और कानून के अंतर्निहित उद्देश्य यह निर्धारित करेगा कि क्या विधायी मंशा वास्तव में केवल शक्ति प्रदान करना था या इस तरह के सम्मेलन का उपयोग करने के लिए कर्तव्य के साथ था।

14. *आधिकारिक परिसमापक बनाम धरती धन (पी) लिमिटेड, में (1977) 2 एससीसी 166*, इस न्यायालय ने इस प्रकार कानूनी स्थिति को अभिव्यक्त किया:

> "7. वास्तव में यह कहना बिल्कुल सही है कि "हो सकता है" शब्द कभी-कभी 'चाहिए' या 'करेगा' का अर्थ प्राप्त करता है। हालांकि, यह शब्द हमेशा शक्ति प्रदान करने का संकेत देता है। वह शक्ति, उस संदर्भ के संबंध में हो सकती है जिसमें यह होता है, और इसके अभ्यास के लिए जिन आवश्यकताओं पर विचार किया गया है, उन्होंने इसे एक दायित्व के रूप में संलग्न किया है जो तथ्यों और परिस्थितियों पर एक निश्चित तरीके से अपने प्रयोग को मजबूर करता है जिससे उस तरह से प्रयोग करने का दायित्व उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में, यह संदर्भ है जो एक निश्चित तरीके से अपने प्रयोग को मजबूर करने में शक्ति के साथ दायित्व को संलग्न कर सकता है। संदर्भ, कानूनी और तथ्यात्मक दोनों उस शक्ति को प्रदान कर सकते हैं जो दायित्व देती है।
>
> 8. इस प्रकार, ऐसे मामलों में सदैव अवधारित किया जाने वाला प्रश्न यह है कि क्या "हो सकता है" शब्द के प्रयोग द्वारा प्रदत्त शक्ति के साथ यह बाध्यता जुडी है कि साक्ष्य द्वारा दर्शित किए जाने वाली कुछ विधिक रूप से विहित शर्तों की पूर्ति पर किसी विशेष प्रकार का आदेश पारित किया जाना चाहिए। यदि कानून विवेक के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ता है तो शक्ति को अन्यू कानूनी प्रावधानों द्वारा इंगित तरीके से प्रयोग किया जाना चाहिए जो कानूनी संदर्भ प्रदान करते हैं। फिर भी तथ्यों को स्थापित करना चाहिए कि कानूनी शर्तें पूरी हो गई हैं। एक शक्ति का प्रयोग तब भी किया जाता है जब न्यायालय विशेष रूप से इसका उपयोग करने के लिए किसी आवेदन जिसमें आवेदक इसे प्रयोग करने की इच्छा रखता है को अस्वीकार कर देता है। जहां तथ्यों के आधार पर किसी आवेदन को स्वीकार या इन्कार करने के लिए शक्ति पर्याप्त है, यह निर्देशक या विवेकाधीन है। यह ऐसी शक्ति प्रदान करना नहीं है जो शब्द "हो सकता है" इंगित करता है जो इसके प्रयोग के साथ दायित्व को किन्तु इसके विधिक और तथ्यात्मक प्रयोग को जोडती है।""

79. वर्तमान मामले में, जैसा कि ऊपर चर्चा की गई है, विवेकाधीन तरीके से "सकता है" प्रावधान के उपयोग का बहुत ही अन्यायपूर्ण परिणाम हो सकता है और विवेक के मनमाने प्रयोग की गुंजाइश छोड़ सकता है। इस प्रकार, संदर्भ, उद्देश्य, विधायी मंशा और कर्मचारियों के पक्ष में लाभप्रद प्रावधानों की अस्पष्टताओं के समाधान की सामान्य

नीति को ध्यान में रखते हुए, हम मानते हैं कि नियम 135 में प्रयुक्त अभिव्यक्ति "हो सकता है" को “होगा” समझा जाना चाहिए और बिना किसी अपवाद के अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त अधिकारी को, इस नियम की भावना के अनुरूप, विशेष पेंशन लाभ प्रदान करने के लिए सक्षम प्राधिकारी पर इसे अनिवार्य बनाना चाहिए। ऐसा करते समय, हम विधायी मंशा की अपनी धारणा को नहीं बदल रहे हैं, बल्कि, हम केवल ***केहर सिंह एवं अन्य बनाम राज्य (दिल्ली प्रशासन***) में सिद्धांत के अनुरूप, विधायिका के इरादे को आगे बढ़ाने के लिए दो अलग-अलग अभिप्राय के बीच चयन करने की शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं।

80. क्या नियम 135 के तहत अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त किए जाने वाले अधिकारियों को उक्त नियमों की प्रति अवश्य दी जानी चाहिए, इस पहलू पर हमारी सुविचारित राय है कि जिन अधिकारियों की सेवा नियम 135 के तहत समाप्त की जा रही है, उन्हें कम से कम अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश के साथ प्रासंगिक लागू नियमों का निचोड़ प्रदान किया जाना चाहिए ताकि संबंधित कर्मचारी कानून के अनुसार दावा करने के लिए लागू नियम के तहत पात्रता और लाभों के बारे में जान सके।

<u>फौजदारी अपील सं 413/2020 @ वि.अनु.या.(फ़ौ) सं.10668/2015</u>

81. अनुमति प्रदानित|

82. इस अपील द्वारा अपीलार्थी ने 2015 के फौ.वि.मु. 4497 में उच्च न्यायालय द्वारा दिनांक 2.11. 2015 को पारित अंतिम निर्णय और आदेश का विरोध किया है, जिसके द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (संक्षेप में सीआरपीसी), की धारा 197 के तहत मंजूरी के अभाव में प्रत्यर्थीगण को आरोपी के रूप में बुलाने से इंकार करने वाले सीआर सं 18/2015 में अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश, पटियाला हाउस न्यायालय , नई दिल्ली द्वारा दिनांक 10.9.2015 को पारित आदेश और सीसी सं. 475/13 में महानगर

दंडाधिकारी, पटियाला हाउस न्यायालय , नई दिल्ली द्वारा दिनांक 28.4.2015 को पारित आदेश को उच्च न्यायालय द्वारा बरकरार रखा गया। हमारे सामने विचार के लिए संक्षिप्त सवाल यह है कि क्या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत पूर्व मंजूरी के बिना प्रत्यर्थीगण को सम्मन जारी करने से इन्कार करना न्यायसंगत और उचित है।

83. अपीलार्थी ने आरोप लगाया है कि प्रत्यर्थीगण द्वारा उसकी मनोवैज्ञानिक मनःस्थिति पर टिप्पणी दर्ज करना मनगढ़ंत था और समिति के सदस्यों के रूप में उनके आधिकारिक कर्तव्यों के दायरे में नहीं था, ताकि उन्हें दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत सुरक्षा प्रदान की जा सके। यह भी आरोप लगाया गया कि सुश्री राठी विनय झा की अध्यक्षता में एक अन्य समिति का गठन इस बात का सबूत है कि प्रत्यर्थीगण द्वारा गठित पहली समिति के पास कानूनी अधिकार नहीं था और इस प्रकार, यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी समिति के सदस्यों ने अपने आधिकारिक कर्तव्यों के दायरे में काम किया है। इस बात पर भी जोर दिया गया कि चूँकि इसे सी. सी. एस. (आचरण) नियम, 1964 (संक्षेप में, आचार नियम") के नियम 19 और ***विनीत नारायण एवं अन्य बनाम भारत संघ एवं एक अन्य*** के सिद्धांत के आधार पर मंज़ूरी के प्रस्ताव को तीन मास के भीतर अस्वीकार नहीं किया गया इसलिए इसे मंज़ूर समझा गया| अपीलार्थी ने अपनी शिकायत में, भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 167 (संक्षेप में "आईपीसी") के तहत निजी प्राइवेट प्रत्यर्थीगण के खिलाफ अपीलार्थी की यौन उत्पीड़न की शिकायत की जांच के लिए गठित समिति की रिपोर्ट के साथ छेड़-छड के ज़रिये अपराध करने का आरोप लगाया था। विचारण न्यायालय ने दंड संहिता प्रक्रिया की धारा 197 के तहत मंजूरी के अभाव के कारण निजी प्रत्यर्थीगण को सम्मन जारी करने से इन्कार कर दिया और उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के आदेश को बरकरार रखा।

84. प्रतिविरोध के गुण में जाने से पहले, हम समझते हैं कि विभाग ने दिनांक 10.2.2012 के एक विस्तृत आदेश के ज़रिये मंजूरी के लिए अपीलार्थी के अनुरोध पर पहले ही फैसला सुनाया था । उस आदेश को प्रत्यर्थी द्वारा अभिलेख पर लाया गया है और हम इसके प्रासंगिक निचोड़ को पुन: प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक मानते हैं, जो इस प्रकार है:

> "13. यहाँ तक कि समिति के सदस्य श्रीमती शशि प्रभा और श्रीमती अंजलि पांडे के विरुद्ध उनके द्वारा निष्कर्ष के क्र.सं. 3 पर दर्ज निष्कर्ष के संबंध में आरोप लगाये हैं जो निम्नानुसार है:
>
> > "3. सुश्री भाटिया की जान लेने की धमकी, दूसरे लोगों से उन्हें खतरे का आरोप और बाद के अवसरों पर उसका व्यवहार (संलग्नक-ग) अशांत मनोस्थिति को इंगित करता है। ऐसे में परामर्श से उन्हें फायदा हो सकता है।"
>
> 14. जबकि, जाहिर है, यह टिपण्णी समिति द्वारा इस तथ्य के मद्देनजर की गई थी कि प्रार्थी सुश्री निशा प्रिया भाटिया ने अपनी जान लेने की धमकी दी थी। यह इस पृष्ठभूमि में था, कि समिति के सभी सात सदस्यों ने सर्वसम्मति से टिपण्णी की थी कि उसका व्यवहार अशांत मनोस्थिति को दर्शाता है और इस तरह के परामर्श से उन्हें लाभ हो सकता है। इसलिए, श्रीमती शशि प्रभा और श्रीमती अंजलि पांडे जिन्होनें समिति के पांच अन्य हस्ताक्षरकर्ता सदस्यों के साथ 19 मई, 2008 की रिपोर्ट पर हस्ताक्षर किए थे को किसी भी तरह की दुर्भावना का ज़िम्मेदार नहीं माना जा सकता। । इसके मद्देनजर श्रीमती शशि प्रभा और श्रीमती अंजलि पांडे के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 167 या धारा 44 के तहत कोई मामला नहीं बनता।
>
> xxxxxx xxxxxx xxxxxx
>
> 19. अब, प्रासंगिक रिकॉर्ड, दिनांक 10.02.2010 की शिकायत के अवलोकन और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 200 तथा भारतीय दंड संहिता की धारा 167 एवं 44 के तहत मुख्य महानगर दंडाधिकारी, जिला न्यायालय, द्वारका की अदालत में दायर संलग्नक के साथ साथ अपराधिक शिकायत की पूरी तरह से जाँच करने के बाद सक्षम प्राधिकारी इस बात से संतुष्ट है कि सुश्री निशा प्रिया भाटिया के अनुरोध अनुसार भारतीय दंड संहिता की धारा 167 एवं 44 के तहत श्रीमती शशि प्रभा, संयुक्त सचिव तथा श्रीमती अंजलि पाण्डेय, निदेशक (वर्तमान संयुक्त सचिव) पर मुक़दमा चलाने के लिए दंड संहिता प्रक्रिया की धारा 197 के तहत अनुमति देने का कोई मामला नहीं बनता| इसलिए, दिनांक 10.02.2010 की अपनी शिकायत में सुश्री निशा प्रिया भाटिया द्वारा की गई दरखास्त को नामंजूर किया जाता है।"

85. धारा 197 के तहत मंजूरी देने के बारे में कानून का दृष्टिकोण अच्छी तरह से तय है। अपने आधिकारिक कर्तव्यों के दौरान उनके द्वारा किए गए कृत्यों के खिलाफ मूर्खतापूर्ण शिकायतों से लोक सेवकों की रक्षा के लिए इस प्रावधान को बनाया गया है। लोक सेवकों के खिलाफ संज्ञान लेने के लिए दंड संहिता प्रक्रिया की धारा 197 के तहत मंज़ूरी कानून में आवश्यक है। फिर भी, हम मंजूरी के सवाल के गुण पर ध्यान नहीं देना चाहते हैं क्योंकि अपीलार्थी ने निजी प्रत्यर्थीगण के खिलाफ मंजूरी देने से इन्कार करने वाले दिनांक 10.2.2012 के आदेश का विरोध नहीं किया है और किसी भी चुनौती के अभाव में यह कानून के अनुसार काम करता रहता है|

86. इसके अतिरिक्त, अपीलार्थी ने प्रतिविरोध किया है कि दिनांक 19.8.2008 के प्रेस नोट को रद्द करने वाले 2012 की रिट याचिका (फौजदारी) सं. 24 में इस न्यायालय का 15.12.2014 का आदेश प्रत्यर्थीगण के खिलाफ उसके आरोप को मज़बूत बनता है| दिनांक 10.2.2012 का आदेश लागू रहने तक इस निवेदन को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

87. इसी तरह, ***पुलिस निरीक्षक एवं एक अन्य बनाम बट्टेनपटला वेंकट रत्नम एवं एक अन्य*** में यह व्याख्या कि भारतीय दंड संहिता की धारा 167 के तहत आरोपों से जुड़े मामलों में कोई मंजूरी आवश्यक नहीं है, इसका कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि अपीलार्थी ने निजी प्रत्यर्थीगण के खिलाफ मंज़ूरी देने से इंकार करने वाले सक्षम प्राधिकारी के दिनांक 10.2.2012 के निर्णय को अनुमति दी है| इसलिए, हमें इस अपील में बताये गए आधार पर और बात करने की ज़रुरत नहीं है| इस प्रकार. यह अपील ख़ारिज की जाती है|

<u>2012 की रिट याचिका (फौजदारी) सं. 24</u>

88. इस रिट याचिका में, याचिकाकर्ता संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत इस न्यायालय की अधिकारिता को लागू करने की मांग की है और ***विशाखा*** (उपरोक्त) में इस न्यायालय द्वारा निर्धारित दिशानिर्देशों के अनुरूप सीसीएस (सीसीए) नियमों में आवश्यक संशोधन करने के लिए प्रत्यर्थीगण को उचित निर्देश जारी करने का अनुरोध किया है| मुख्यतः याचिकाकर्ता का प्रयास यौन उत्पीड़न की शिकायतों से संबंधित सीसीएस (सीसीए) नियमों में निर्धारित प्रक्रिया को जांच के लिए रखना है।

89. याचिकाकर्ता ने प्रतिविरोध किया है कि ये नियम यौन उत्पीडन की पीडिता को उसकी शिकायत की जांच के दौरान पर्याप्त भागीदारी प्रदान नहीं करते हैं। यह भी कहा गया है कि आरोपित अधिकारी के पास जांच प्रक्रिया में भागीदारी के व्यापक अधिकार हैं| जबकि पीड़ित/शिकायतकर्ता के पास ऐसे समान अधिकार नहीं हैं। यह जोर दिया गया है कि ये नियम शिकायत समिति को उसके दस्तावेजों. उसके गवाहों या समिति की संरचना के खिलाफ उसकी आपत्तियों को ध्यान में रखने के लिए बाध्य नहीं करते हैं, जिससे अनुचितता और प्राकृतिक न्याय का वंचन होता है।

90. याचिकाकर्ता द्वारा आगे कहा गया है कि इन नियमों में पीड़िता/शिकायतकर्ता को शिकायत समिति की रिपोर्ट उपलब्ध कराने का प्रावधान नहीं है और दिनांक 2.8.2016 का कार्यालय ज्ञापन भी इस कमी को सुधारने में असमर्थ हैं क्योंकि यह केवल तभी लागू होता है जब शिकायत समिति आरोपित अधिकारी के खिलाफ किसी भी कार्रवाई की सिफारिश नहीं करती है, जिससे उन स्थितियों को छोड़ दिया जाता है जिनमें कार्रवाई की सिफारिश की गई है और अपर्याप्त पाई गई है। इसके अलावा, यह भी कहा गया है कि दिनांक 2.8.2016 के कार्यालय ज्ञापन के अनुसार, अनुशासनात्मक प्राधिकरी के समक्ष रखे जाने के बाद ही पीड़ित/शिकायतकर्ता को ऐसी रिपोर्ट दी जा सकती है और

प्राधिकारी किसी भी कार्रवाई की सिफारिश नहीं करने के निर्णय पर पहुंच गया हो। याचिकाकर्ता द्वारा की गई विशिष्ट प्रार्थना इस प्रकार है:

> "1. केंद्रीय लोक सेवा (वर्गीकरण, नियंत्रण और अपील) (CCS (CCA) नियम, 1965 में संशोधन करने के लिए प्रत्यर्थी सं. 1 को निर्देश देने वाला रिट या कोई अन्य आदेश जारी किया जाये, जिसके तहत केंद्र सरकार के कर्मचारियों के खिलाफ जाँच की जाती है ताकि उसकी शिकायत पर शुरू की गई जांच की प्रक्रिया में यौन उत्पीड़न की पीडिता को इस माननीय न्यायालय के विशाखा दिशानिर्देश, 1997 का अनुपालन करते हुए उसका उसे उचित प्रतिनिधित्व दिया जा सके"

91. दूसरी ओर, प्रत्यर्थीगण ने प्रस्तुत किया है कि दिनांक 16.07.2015 के कार्यालय ज्ञापन के प्रावधान में स्पष्ट रूप से शिकायत समिति द्वारा पालन की जाने वाली प्रक्रिया को निर्धारित किया गया है और पीड़ित/ शिकायतकर्ता प्रक्रिया में पर्याप्त रूप से शामिल है। इसके अलावा, शिकायत समिति को जांच प्राधिकारी का दर्जा दिया गया है और CCS (CCA) नियमों के नियम 14 के अनुसार यह प्रक्रिया संचालित होती है । इसके अलावा, यह प्रस्तुत किया गया है कि दिनांक 16.07.2015 का कार्यालय ज्ञापन अपने पैरा 10 के द्वारा शिकायत समिति की संरचना के संबंध में पक्षपात की आशंका को सिद्ध करता है, जो इस प्रकार है:

> "10. उक्त नियम 14(2) के अनुसार चूँकि शिकायत समिति जाँच प्राधिकारी के रूप में भी कार्य करती है इसलिए इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि जाँच के समय वह निष्पक्षता बरकरार रहे | इस बिंदु पर कोई भी विफलता जांच करते समय पक्षपात के आरोपों को आमंत्रित कर सकती है और जांच दूषित करती है । निर्देशों के अनुसार, जब जाँच प्राधिकारी के खिलाफ पक्षपात के आरोप प्राप्त होते हैं, तो इस तरह के जाँच प्राधिकारी को तब तक जांच पर रोक लगाने की आवश्यकता होती है जब तक कि अनुशासन प्राधिकारी पक्षपात के आरोपों पर निर्णय नहीं लेता। इसके अतिरिक्त, यदि इस आधार पर समिति के किसी सदस्य के विरुद्ध पक्षपात के आरोप स्थापित हो जाते हैं तो उस समिति को जांच करने की अनुमति नहीं दी जा सकती"

92. याचिकाकर्ता को शिकायत समिति की रिपोर्ट की आपूर्ति के संबंध में, प्रत्यर्थीगण ने कहा कि दिनांक 02.08.2016 के कार्यालय ज्ञापन के अनुसार, जब शिकायत समिति ने आरोपित अधिकारी के खिलाफ किसी भी कार्रवाई की सिफारिश नहीं की है,

अनुशासन प्राधिकारी शिकायत समिति की रिपोर्ट की एक प्रति पीड़ित/ शिकायतकर्ता को उपलब्ध कराएगी और अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले उसके अभ्यावेदन पर विचार करेगी। गौरतलब है कि, यह निवेदन याचिकाकर्ता द्वारा उठाए गए प्रतिविरोध के अनुरूप है और इस प्रकार की जांच करने की आवश्यकता है।

93. कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न की शिकायतों से निपटने के लिए अपनाई गई जांच प्रक्रिया को कानून में एक पवित्र दृष्टिकोण माना गया है और किसी भी बहाने से कमजोर नहीं किया जा सकता है। इस न्यायालय ने, बहुत सारे फैसले में, यह स्पष्ट किया है कि निष्पक्षता और तर्कशीलता विधि द्वारा स्थापित किसी भी प्रक्रिया के अभिन्न अंग हैं। लेकिन, वर्तमान मामले में, हम यह टिपण्णी करने के इच्छुक हैं कि याचिकाकर्ता द्वारा मांगी गई राहत मूर्खतापूर्ण है।

94. याचिकाकर्ता ने कुछ बिन्दुओं पर CCS (CCA) नियमों में परिवर्धन करने के लिए प्रत्यर्थीगण (कार्मिक एवं प्रशिक्षण विभाग) को निर्देश जारी करने का आह्वान किया है। सही कहा जाए तो विधि/नियम बनाने वाले अधिकारियों के सम्बन्ध में इस न्यायालय द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्तियों की रूपरेखा की बाबत विधि पूर्णरूप से स्थापित है और न्यायिक संयम (अंकुश) तथा शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांतों पर आधारित है। दूसरे शब्दों में, न्यायालय को किसी विशेष नियम बनाने के लिए विधि/नियम बनाने वाले निकायों को निर्देश जारी करने के लिए अनिच्छुक होना चाहिए और खासतौर पर उस समय जब नियमों की कथित खामियां वर्तमान विषय-वस्तु का हिस्सा भी न हों| ***संभागीय प्रबंधक, अरावली गोल्फ क्लब एवं एक अन्य बनाम चंदर हास एवं एक अन्य*** में, मोनटेस्क्यू के *द स्पिरिट ऑफ लॉज* पर भरोषा करते हुए इस न्यायालय ने न्यायिक शक्तियों के निचोड़ की व्याख्या करते हुए इस प्रकार टिपण्णी की है :-

"21 (अपनी पुस्तक 'द स्पिरिट ऑफ लॉज' में) फ्रांस के विचारक मोनटेस्क्यू द्वारा पहली बार सुझाया गया शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत मोटे तौर पर भारत के सन्दर्भ में भी है। अपनी पुस्तक *"द स्पिरिट ऑफ लॉज"* के अध्याय XI में मोनटेस्क्यू लिखते हैं:

"जब विधायिका और कार्यपालिका की शक्तियां एक ही व्यक्ति अथवा दंडाधिकारियों के एक ही निकाय के पास आ जाती है तो कोई स्वतंत्रता नहीं हो सकती है, क्योंकि आशंकाएं उत्पन्न हो सकती हैं, ऐसा न हो कि वही राजा अथवा सेनेट दमनकारी विधि को निरंकुश रीति से निष्पादित करने के लिए लागू करे।"

"फिर, कोई स्वतंत्रता नहीं रह जाती, अगर न्यायिक शक्ति को विधायी और कार्यकारी से अलग नहीं किया जाए। अगर यह विधायिका (शक्तियों) के साथ शामिल हो जाय तो लोगों के जीवन और स्वतंत्रता में एकपक्षीय नियंत्रण आ जायेगा; क्योंकि न्यायाधीश तब विधायक होगा। अगर यह कार्यपालिका के शक्तियों में शामिल हो जाय तो न्यायाधीश हिंसा और उत्पीड़न के साथ व्यवहार कर सकता है।

यदि एक ही आदमी या एक ही निकाय, चाहे वह कुलीन हो या लोगों का, उन तीन शक्तियों अर्थात कानूनों को लागू करने, सार्वजानिक प्रस्तावों को निष्पादित करने और व्यक्तियों के मुकद्दमों का विचारण करने के लिए प्रयोग करे तो सब कुछ समाप्त हो जाएगा।"

(जोर दिया गया)

सोशल एक्शन फोरम फॉर मानव अधिकार एवं एक अन्य बनाम भारत संघ,

विधि एवं न्याय मंत्रालय एवं अन्य में, इस न्यायालय ने पुनः इसी पहलू की छानबीन करते हुए निम्नानुसार टिपण्णी की है:-

"40. हम इससे पहले भी कह चुके हैं कि *राजेश शर्मा बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* (2018)10 एससीसी 472 में जारी किये गए कुछ निर्देश विधायी क्षेत्र में प्रवेश करने की सामर्थ्य रखते हैं | *सुरेश सेठ बनाम इंदौर नगर निगम* (2005)13 एससीसी 287 में तीन न्यायाधीशों की एक पीठ ने इस प्रकार निर्णय दिया (सुरेश सेठ मामला, एससीसी पीपी 288-89, पैरा 5)

> 5. हमारी राय में यह तय करना जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों का नीतिगत मामला है और इस संबंध में इस न्यायालय द्वारा कोई भी निर्देश नहीं जारी किया जा सकता है। इसके अलावा यह न्यायालय विधायिका को किसी विशेष प्रकार का कानून बनाने के लिए कोई निर्देश जारी नहीं कर सकता है। हमारी संवैधानिक व्यवस्था के तहत संसद और विधान सभाएं कानून बनाने के लिए

> संप्रभु शक्ति का प्रयोग करते हैं और कोई भी बाहरी शक्ति अथवा प्राधिकारी कोई विशेष कानून बनाने के लिए निर्देश जारी नहीं कर सकते| *सर्वोच्च न्यायालय कर्मचारी कल्याण एसोसिएशन बनाम भारत संघ,* (1989)4 एससीसी 187 में यह माना गया है कि कोई भी अदालत किसी विधायिका को किसी विशेष कानून को बनाने का निर्देश नहीं दे सकती। इस प्रकार, जब कार्यपालिका से संबंधित कोई प्राधिकारी विधायिका की अधिकृत प्राधिकारी के अनुकूल एक अधीनस्थ कानून के माध्यम से विधायी शक्ति का प्रयोग करता है, तो ऐसे कार्यपालिका से सम्बंधित प्राधिकारी को कोई कानून बनाने के लिए नहीं कहा जा सकता जिसे अधिकृत विधायी प्राधिकारी के तहत इसे करने का अधिकार प्राप्त है।....."

95. फिर भी, हमारी राय में, याचिकाकर्ता ने दो अलग-अलग व्यवस्था के तहत की गई दो अलग जाँच को एक संयुक्त प्रक्रिया के रूप में भ्रमित किया है। कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न की शिकायतों से निपटने के लिए कानूनी व्यवस्था को कार्यस्थल पर महिलाओं के यौन उत्पीड़न अधिनियम, 2013 (इसके बाद 2013 अधिनियम) और उसके तहत बनाए गए नियमों द्वारा अच्छी तरह से चित्रित किया गया है। 2013 के अधिनियम के तहत निर्धारित प्रक्रिया और कार्यस्थल पर महिलाओं के यौन उत्पीड़न (रोकथाम, निषेध और निवारण) नियम, 2013 (संक्षेप में, 2013 नियम), या तो शिकायत या जाँच के मामलों में कोई प्रस्थान नहीं हो सकता। ऐसी प्रक्रिया की पवित्रता निर्विवाद है। 2013 अधिनियम के तहत जांच तथ्य खोज करने वाली एक अलग जांच है। 2013 अधिनियम के तहत तथ्य-खोज जांच के पश्चात्, प्रासंगिक विभागीय नियमों (वर्तमान मामले में CCS (CCA) नियमों) के तहत विभागीय जाँच हेतु मामला विभाग के पास जाता है और उसके बाद कार्रवाई होती है| उक्त विभागीय जाँच एक ऐसी आंतरिक व्यवस्था है जिसमें प्रतिभागियों पर रोक होती है और सुने जाने के अधिकार का मुद्दा सख्त एवं सटीक हैं| प्रक्रिया की गोपनीयता का उचित ध्यान रखते हुए, इस तरह की जांच का दायरा दोषी कर्मचारी और संबंधित विभाग के बीच सीमित है। दोनों जाँच को एक-दूसरे के साथ मिलाया नहीं जा सकता और दोनों के लिए समान प्रक्रियात्मक मानकों को निर्धारित नहीं किया जा सकता। विभागीय जाँच, अभियोजन, दंड, कार्यवाही, जांच रिपोर्ट पर

कार्रवाई, अपील आदि के मामलों में सरकारी सेवकों के आचरण के संबंध में, CCS (CCA) नियम किसी भी विभागीय कार्रवाई के लिए एक स्व-निहित संहिता के रूप में काम करते हैं और जब तक कि मौजूदा नियम को स्वीकार्य आधार पर इस न्यायालय के समक्ष चुनौती नहीं दी जाती, हम न्यायालय के किए इसका विस्तार करना अनावश्यक समझते हैं।

96. कार्यालय ज्ञापन के रूप में प्रत्यर्थी द्वारा जारी अधिसूचनाओं का स्वरूप विभागीय निर्देशों का है और इसका उद्देश्य 2013 के अधिनियम और उसके अंतर्गत बनाये गए नियमों की कमी पूरी करता है । इस तरह की अधिसूचनाएं, 2013 के अधिनियम के विपरीत संचालित नहीं होतीं. बल्कि वे उसे आगे बढ़ने का काम करती हैं। उदाहरण के लिए, दिनांक 02.08.2016 का कार्यालय ज्ञापन निम्न प्रकार है:-

> "3. एसएचडब्ल्यूडब्ल्यू (पीपीआर) अधिनियम, 2013 की धारा 18 (1) के अनुसार, यह तय किया गया है कि यौन उत्पीड़न के आरोप के सभी मामलों में, निम्नलिखित प्रक्रिया अपनाई जा सकती है..."

97. पूर्वोक्त कार्यालय ज्ञापन के अवलोकन मात्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त अधिसूचना 2013 के अधिनियम के तहत निर्धारित प्रक्रिया को आगे बढ़ाती है और किसी भी तरीके से, उसके ताक़त को कम नहीं करती है। यह याचिकाकर्ता का तर्क नहीं है कि 2013 का अधिनियम स्वयं प्रक्रियात्मक कमियों से ग्रस्त है। इसके अलावा, यदि वर्तमान प्रक्रियात्मक व्यवस्था हमारे संवैधानिक न्यायशास्त्र में परिकल्पित न्यायसंगत, निष्पक्ष और उचित प्रक्रियात्मक मानकों की कमी है, तो न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप आवश्यक है। गौरतलब है कि इस मामले में तथ्यात्मक पैमाना 2013 के अधिनियम से पहले के युग से संबंधित है और पूरी तरह से ***विशाखा*** (उपरोक्त) में इस न्यायालय द्वारा जारी दिशानिर्देशों द्वारा नियंत्रित था। इसे अलग ढंग से यूँ कहा जा सकता है कि इस याचिका में याचिकाकर्ता द्वारा उठाए गए विषय वस्तु या मुद्दों का

वर्तमान मामले पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए, याचिकाकर्ता की ओर से विचाराधीन तर्क की पड़ताल काल्पनिक या व्यर्थ सैद्धांतिक अभ्यास के अलावा और कुछ नहीं होगी।

98. उपरोक्त के अलोक में, हम मानते हैं कि इस रिट याचिका में दावा की गई राहत में कोई दम नहीं है|

<u>जीवन के अधिकार के उल्लंघन हेतु संवैधानिक मुआवजा</u>

99. अब हम मामले के तथ्यात्मक पैमाने के आलोक में याचिकाकर्ता के मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के लिए मुआवजे के अनुदान की प्रार्थना पर विचार करेंगे। वास्तव में, दोनों पक्षों की ओर से प्रस्तुतियों के दौरान विभिन्न आरोप और प्रत्यारोप लगाये गए हैं| लेकिन हम इस प्रार्थना पर विचार के लिए स्थापित तथ्यों तक खुद को सीमित रखेंगे। निसंदेह याचिकाकर्ता ने 7.8.2007 को यौन उत्पीड़न की शिकायत दर्ज की। सुश्री शशि प्रभा की अध्यक्षता वाली समिति को शिकायत की जांच सौंपने के बाद, समिति को आरोपित अधिकारियों में से एक के विरुद्ध जाँच करने के लिए अक्षम पाया गया और उस अधिकारी के विरुद्ध जांच अंततः सुश्री राठी विनय झा की अध्यक्षता वाली समिति को सौंपी गई| गौरतलब है कि 19.8.2008 को प्रधान मंत्री कार्यालय में हुई घटना और उसकी व्यापक मीडिया कवरेज के बाद ही ऐसा किया गया। इसके अलावा, अगस्त 2007 में की गई शिकायत को तीन महीने से अधिक की देरी से पहले यौन उत्पीड़न समिति को हस्तानांतरित नहीं किया गया। प्रत्यर्थीगण की ढिलाई के संबंध में 26.10.2007 को पीएमओ को लिखित शिकायत के बाद दिसंबर, 2007 में हस्तानांतरित किया गया। विभागीय समिति के अनुचित गठन से यह देरी उजागर हो गई। इस संबंध में, सुश्री राठी विनय झा समिति द्वारा प्रस्तुत जांच रिपोर्ट में इस प्रकार टिपण्णी की गई:

> "(iii) विशाखा दिशानिर्देशों के अनुसार यौन उत्पीड़न से संबंधित विभागीय समिति भी ठीक से गठित नहीं की गई| इस आवश्यकता के अनुसार, शिकायत समिति में "तीसरे पक्ष को एक गैर सरकारी संगठन या अन्य निकाय के प्रतिनिधि के रूप में होना चाहिए था जो यौन उत्पीड़न के मुद्दे से परिचित हो"। जबकि यौन उत्पीड़न से संबंधित समिति का पुनर्गठन 1.11.2007 को किया गया था। राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद सचिवालय की निदेशक सुश्री तारा करथा को अप्रैल 2008 में ही इस समिति के सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया था। यह स्पष्ट नहीं है कि सुश्री तारा करथा एक गैर सरकारी संगठन या यौन उत्पीड़न के मुद्दे से परिचित व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करने के लिए किस तरह से योग्य है। अतः इस हिसाब से भी, यह विशाखा दिशानिर्देशों के अनुसार गठित समिति नहीं थी|"

100. यौन उत्पीड़न की शिकायत का अनुचित निपटान भी जांच रिपोर्ट के बाद के निष्कर्षों में प्रकट होता है जिसे इस प्रकार पेश किया जाता है:

> "मई 2008 में पेश की गई यौन उत्पीडन संबंधी विभागीय समिति की रिपोर्ट की पड़ताल ने स्थापित किया कि सुश्री निशां प्रिया भाटिया की शिकायत का समय पर ध्यान या उचित जांच और निवारण नहीं किया गया।
>
> फ़ाइल पर श्री अशोक चतुर्वेदी की लिखित टिप्पणियां शिकायत पर तत्काल ध्यान सुनिश्चित करने के लिए उनकी चिंता या सम्मान के अभाव को दर्शाती हैं। यह विशाखा दिशानिर्देशों की आवश्यकताओं के संबंध में श्री अशोक चतुर्वेदी के ज्ञान की कमी को भी दर्शाती है।
>
> इसके अलावा, यौन उत्पीड़न सन्बन्धी विभागीय समिति को शिकायत हस्तानांतरित किये जाने के बावजूद, सचिव (आर) ने विशाखा दिशानिर्देशों के अनुसार समिति के गठन पर ध्यान नहीं दिया। अतः यह कार्य विशाखा मार्गनिर्देशों का घोर उल्लंघन था"

101. इसलिए, इस पर विवाद नहीं है कि यौन उत्पीड़न के संबंध में याचिकाकर्ता की शिकायतें विभाग में अपने वरिष्ठों की कार्यविधि संबंधी अज्ञानता और ढीले रवैये को दर्शाने वाली घटनाओं का शिकार हो गईं। हम यह भी उल्लेख करते हैं कि दिनांक 19.8.2008 के प्रेस नोट के संबंध में इस न्यायालय ने उनकी मनोवैज्ञानिक स्थिति पर अनुचित हमलों पर कड़ी आपत्ति जताई थी और याचिकाकर्ता की गरिमा, प्रतिष्ठा और निजिता का उल्लंघन करने के लिए दिनांक 15.12.2014 के आदेश के ज़रिए इस नोट को पूर्ण रूप से रद्द कर दिया था। मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के संबंध में इस तरह

के सारगर्भित निष्कर्ष के बावजूद, याचिकाकर्ता को मुआवजे की कोई राहत नहीं दी गई और संभवतः उस समय उसके द्वारा इसे पाने कि कोशिश भी नहीं गई।

102. 2013 अधिनियम की व्यवस्था, विशाखा दिशानिर्देश और महिलाओं के खिलाफ भेदभाव के सभी रूपों के उन्मूलन पर कन्वेंशन (CEDAW) के अनुसार गैर शत्रुतापूर्ण कार्य वातावरण गरिमामय रोजगार का मूल अंग है। कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न के मामलों के संबंध में कानून का दृष्टिकोण उत्पीड़न के वास्तविक कृत्यों के मामलों तक ही सीमित नहीं है लेकिन उन स्थितियों को भी शामिल किया गया है, जिनमें महिला कर्मचारी को कार्यस्थल पर प्रति-दिन के कामकाज में पक्षपात, शत्रुता, भेदभावपूर्ण रवैया और अपमान का निशाना बनाया जाता है। कोई भी अन्य दृष्टिकोण अपनाने से कानून का उद्देश्य निष्फल हो जायेगा| संभवतः जब कानूनी मशीनरी शुरू करने के प्रयास के जवाब में लापरवाही या टालमटोल (जानबूझकर या अन्यथा) किया जाता है तो न केवल कानून की सहायता की व्यक्तिगत गुहार बल्कि कानून के शासन द्वारा संचालित समाज के मूलभूत सिद्धांत भी खतरे में पड़ जाते हैं जिससे व्यापक जनहित को खतरा पैदा होता है| समय पर और सक्षम मंच द्वारा जांच से इन्कार , अनिवार्य रूप से न्याय से वंचित करने और मौलिक अधिकार के उल्लंघन के तौर पर सामने आता है| वर्तमान मामले का तथ्यात्मक पैमाना यौन उत्पीडन के संबंध में सचिव (आर) की संवेदनशीलता के अभाव से परिपूर्ण है| अर्थात उक्त शिकायत पर कार्रवाई करने में लगने वाला समय और विशाखा दिशानिर्देशों के उल्लंघन में पहली शिकायत समिति (इरादतन या गर-इरादतन) का अनुचित गठन, अभद्र व्यवहार और याचिकाकर्ता के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन और विशेष रूप से संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 के उल्लंघन को भयावह रूप से जन्म देता है|

103. इस अदालत ने समय के साथ, अन्य राहत के अलावा मौद्रिक लिहाज़ से मुआवजे प्रदान करके जीवन के अधिकार के गंभीर उल्लंघन को सुधारने की न्यायिक नीति विकसित की है। ***एस नंबी नारायणन बनाम सिबी मैथ्यू और अन्य*** में इस न्यायालय ने जीवन के अधिकार के उल्लंघन के लिए मुआवजा हेतु सार्वजनिक कानून के उपाय को लागू करने के लिए अपनी शक्ति का यह टिपण्णी करते हुए प्रयोग किया कि जीवन खुद आत्मसम्मान की मांग करता है| इसने निम्न प्रकार टिपण्णी की:-

> "40 .... व्यक्ति की गरिमा को उस समय झटका लगता है जब उसके साथ मनोचिकित्सा संबंधी व्यवहार किया जाता है। इंसान न्याय के लिए उस समय गुहार लगता है जब उसे लगता है कि असंवेदनशील कृत्य ने उसके आत्मसम्मान को सूली पर चढ़ा दिया है। वह सार्वजनिक कानूनी उपाय के तहत मुआवजे की मांग करता है|"

नीलाभती बेहरा (श्रीमती) उर्फ ललिता बेहरा (उच्चतम न्यायालय कानूनी सहायता समिति के माध्यम से) बनाम उड़ीसा राज्य और अन्य *तथा* ***रुदुल साह बनाम बिहार राज्य एवं एक अन्य*** पर भी ध्यान दिया जाए|

104. वर्तमान मामले में, याचिकाकर्ता ने यौन उत्पीड़न की अपनी शिकायत को अनुचित तरीके से निपटाए जाने के कारण अत्यधिक असंवेदनशील और अभद्र परिस्थितियों का सामना किया था। उक्त शिकायत की जाँच का परिणाम पर ध्यान दिए बिना, याचिकाकर्ता के मौलिक अधिकारों का स्पष्ट रूप से हनन हुआ था। परिस्थितियों को समग्र रूप से देखते हुए, हम इसे याचिकाकर्ता को उसके जीवन और सम्मान के अधिकार के उल्लंघन के लिए 1,00,000/ रूपये का मुआवजा देने के लिए एक उपयुक्त मामला मानते हैं। यदि विधिवत जाँच में याचिकाकर्ता की उक्त शिकायत में यह आरोप का मामला होता (जो याचिकाकर्ता करने में विफल रहा है) तब भी सबसे खराब और उसके मौलिक अधिकारों का उल्लंघन है जो उपयुक्त (उच्च) मुआवजा राशि की मांग करता है। बहरहाल, किसी भी तरह, आज से छह सप्ताह के भीतर उक्त

निर्धारित मुआवजा राशि सीधे याचिकाकर्ता को भुगतान की जाए या इस न्यायालय की रजिस्ट्री में जमा की जाए|

<u>2016 की रिट याचिका (फौजदारी) संख्या 1</u>

105. याचिकाकर्ता ने उसके यौन उत्पीडन, उसके खिलाफ भा.दं.सं. के तहत किए गए विभिन्न अपराध और संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 21 और 22 के तहत उसके मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के लिए मुआवजे की राशि के रूप में अपनी बेटी की उच्च शिक्षा का भुगतान करने के लिए उत्तरदाताओं को यह निर्देश देने के लिए परमादेश की रिट जारी करने की प्रार्थना के साथ यह रिट याचिका दायर की है| हमारे समक्ष याचिका की मुख्य प्रार्थना इस प्रकार है:

> "परमादेश/या कोई अन्य उपयुक्त रिट / आदेश / निर्देश जारी किए जाए कि प्रत्यर्थीगण याचिकाकर्ता के दिनांक 11.08.15 के पत्र का जवाब दें और याचिकाकर्ता के अत्यधिक यौन उत्पीड़न तथा भारतीय दंड संहिता की धारा 499, 500, 503, 506, 186, 339 और 341 के तहत उनके अधिकारियों द्वारा उनके खिलाफ किए गए दंडनीय अपराधों के मुआवज़े के रूप में याचिकाकर्ता की छोटी बेटी की उच्च शिक्षा के लिए भुगतान करें जैसा कि रिकॉर्ड पर विभिन्न अदालती आदेशों से साबित होता है।"

106. याचिकाकर्ता अपने निवेदन के समर्थन में विभिन्न मंचों के समक्ष होने वाली कार्रवाइयों को अभिलेख पर लाई हैं कि निजी प्रत्यर्थीगण ने उसके खिलाफ आपराधिक धमकी, मानहानि और सदोष अवरोध के कार्य किए हैं। उसने इस बात पर भी जोर दिया कि दिनांक 8.12.2009 कि उसकी गिरफ़्तारी से संविधान के अनुच्छेद 22 के तहत उसके मौलिक अधिकार का हनन हुआ क्यूंकि प्रत्यर्थीगण द्वारा अवैध रूप से गिरफ्तारी की गई थी।

107. दूसरी ओर, प्रत्यर्थीगण का यह प्रतिविरोध है कि याचिकाकर्ता ऐसे किसी भी मुआवजे का हकदार नहीं है। इस प्रतिविरोध के समर्थन में, प्रत्यर्थीगण ने निम्नलिखित निवेदन पेशा किया है:-

> "3. यह कि याचिकाकर्ता ने 11.08.2015 को भारत के माननीय प्रधान मंत्री को रु 26,00,000 की वित्तीय सहायता के बारे में एक अभ्यावेदन दिया था जिसकी उन्हें इंडियन स्कूल ऑफ बिजनेस, हैदराबाद (201617 का कोर्स) में एमबीए कोर्स में अपनी बेटी के शुल्क के भुगतान हेतु आवश्यकता थी। उपलब्ध रिकॉर्ड के अनुसार, पीएमओ ने दिनांक 18.08.2015 के पत्र द्वारा उसके दिनांक 11.08.2015 के अभ्यावेदन को मानव संसाधन विकास मंत्रालय के उच्च शिक्षा विभाग को भेज दिया। इसके बाद, उच्च शिक्षा विभाग ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के परामर्श से मामले की जांच की| यूजीसी ने सूचित किया था कि इंडियन स्कूल ऑफ बिजनेस, हैदराबाद इसके द्वारा बनाई गई सूची में नहीं है और यूजीसी के दायरे में नहीं है। इसके अलावा, उच्च शिक्षा विभाग ने बताया था कि इंडियन स्कूल ऑफ बिजनेस, हैदराबाद एक निजी बिजनेस स्कूल है और इंडियन स्कूल ऑफ बिजनेस में प्रवेश के लिए आर्थिक सहायता देने की उस मंत्रालय की कोई योजना नहीं है।"

108. अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त सरकारी कर्मचारी होने के नाते, याचिकाकर्ता के सेवानिवृत्ति के बाद के लाभों का अधिकार उस पर लागू होने वाले सेवा नियमों के तहत प्रावधानों तक ही सीमित होगा। याचिकाकर्ता को 1975 के नियमों के नियम 135 के अनुसार, अनुमानित सेवानिवृत्ति की तारीख के आधार पर पेंशन सहित सेवानिवृत्ति के पश्चात् विभिन्न लाभ दिए गए। याचिकाकर्ता के मौलिक अधिकारों के हनन के संबंध में 2012 की रिट याचिका (फौजदारी) संख्या 24 में हम पहले ही इस पहलू पर विचार कर चुके हैं तथा उस संबंध में मुआवजा दे चुके हैं| विचाराधीन रिट याचिका में बताये गए मूल कारण के संदर्भ में याचिकाकर्ता को किसी भी तरह का मुआवज़ा नहीं दिया जा सकता|

109. 2012 की रिट याचिका (दीवानी) 3704 में उच्च न्यायलय के आदेश पर भरोसा करते हुए याचिकाकर्ता का यह प्रतिविरोध है कि अभिलेख पर मौजूद न्यायलय के

विभिन्न आदेश प्रत्यर्थीगण के अधिकारियों द्वारा याचिकाकर्ता के खिलाफ़ आपराधिक धमकी और ग़लत ढंग से बंधक बनाने के कृत्य को सिद्ध करते हैं| हम उक्त आदेश से कथित रूप से निकाले गए इस निष्कर्ष को सिरे से ख़ारिज करते हैं| उक्त रिट याचिका में उच्च न्यायालय के समक्ष निर्णय की गुंजाइश अनुपस्थिति की अवधि के नियमितीकरण और परिणामी लाभों के अनुदान तक सीमित थी। ***विशाखा*** (उपरोक्त) दिशानिर्देशों का पालन करने में कार्यविधि संबंधी अनुचित व्यवहार के इर्द-गिर्द घूमती टिप्पणियां, याचिकाकर्ता का परिणामी स्थानांतरण और और पक्षकारों के बीच विभिन्न प्रकार के प्रत्यारोप, किसी भी तरह से अधिकारियों के आपराधिक दायित्व पर निर्णय नहीं है। वास्तव में, अब तक के किसी भी पूर्ववर्ती मामले में अधिकारियों के आपराधिक दायित्व का सवाल नहीं उठाया गया है। इस प्रकार, विचाराधीन आरोपों के बहाने कोई अतिरिक्त मुआवजा याचिकाकर्ता को नहीं दिया जा सकता| इसलिए, यह याचिका विफल होगी और उक्त शर्तों के साथ इसका निपटान किया जाता है|

110. मामले की अजीब परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए 2019 की विशेष अनुमति याचिका (दीवानी) संख्या 2307 में दायर 2019 के अंतर्वर्ती आवेदन संख्या 79011 के सन्दर्भ में यह आदेश दिया जाता है कि याचिकाकर्ता से आज से अगले तीन महीने तक जुर्माने के रूप में कोई किराया नहीं वसूल किया जायेगा| लेकिन इस आदेश के बाद, अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश के अंतिम होने के साथ, प्रत्यर्थीगण आज से तीन महीने की अवधि समाप्त होने के बाद मौजूदा नियमों के अनुसार सरकारी आवास खाली कराने और उचित कानून प्रक्रिया का पालन करने के लिए स्वतंत्र हैं|

111. अंत में, हमें यह टिपण्णी करने की ज़रुरत है कि याचिकाकर्ता/अपीलार्थी ने व्यक्तिगत रूप से पेश होकर बहस की, अत्यंत गरिमा के साथ खुद को प्रस्तुत किया और न्यायालय के प्रति गरिमापूर्ण आचरण दिखाया| इस मामले से जुड़ी अंतर्निहित

भावनात्मक अपील के बावजूद, याचिकाकर्ता / अपीलार्थी ने कानूनी सिद्धांतों के संदर्भ में किसी अन्य निपुण अधिवक्ता की तरह अपना मामला प्रस्तुत किया।

112. तदनुसार, निम्न शर्तों और निर्देशों के साथ हम अपने समक्ष चार मामलों का निपटान करते हैं|

(i) हम मानते हैं कि 1975 के नियमों का नियम 135 मान्य हैं और असंवैधानिकता के अवगुण से ग्रस्त नहीं है| इसके अलावा, नियम 135 के उप-नियम (2) में आने वाली अभिव्यक्ति "हो सकता है" को प्रावधान के उद्देश्य को सही प्रभाव देने हेतु "होगा" पढ़ा जाए।

(ii) अपीलार्थी/ याचिकाकर्ता के विरुद्ध नियम 135 के तहत पारित अनिवार्य सेवानिवृत्ति का आक्षेपित आदेश मान्य एवं वैध है और इस सम्बन्ध में उच्च न्यायालय का निर्णय, वर्तमान निर्णय में किए गए संशोधन की सीमा तक बरक़रार रखा जाता है|

(iii) अपीलार्थी/ याचिकाकर्ता को प्रदान की जाने वाली पेंशन की गणना उच्च न्यायालय द्वारा निर्देशित अनुमानित सेवानिवृत्ति की तिथि के अनुसार की जाएगी न कि वास्तविक अनिवार्य सेवानिवृत्ति की तिथि से और इस सम्बन्ध में अतिरिक्त राशि, यदि हो, आज से छह सप्ताह के भीतर उसे दी जाएगी|

(iv) प्रत्यर्थी(गण) (भारत संघ) को अपीलार्थी/याचिकाकर्ता की यौन उत्पीडन की उसकी शिकायत के अनुचित ढंग से निपटने के लिए उसकी जीवन एवं गरिमा के मौलिक अधिकार के उल्लंघन के बदले रू. 1,00,000/- (मात्र एक लाख) का मुआवजा देने का निर्देश दिया जाता है| मुआवजे की राशि का भुगतान अपीलार्थी/याचिकाकर्ता को उसके बैंक खाते में सीधे जमा कर या इस

न्यायालय में जमा कर किया जाए और किसी भी सूरत में छह सप्ताह के भीतर किया जाए|

(v) अपीलार्थी/याचिकाकर्ता को उसका आधिकारिक निवास खाली करने और उसका शांतिपूर्ण कब्ज़ा देने के लिए आज से तीन महीने का समय दिया जाता है| इसके अतिरिक्त, याचिकाकर्ता से आज से अगले तीन महीने तक जुर्माना के रूप में कोई किराया नहीं वसूल किया जायेगा|

113. तद्नुसार अपील, रिट याचिका एवं लंबित अंतरवर्ती आवेदनों का उपरोक्त शर्तों के अनुसार निपटान किया जाता है|

..... न्यायमूर्ति
(ए.एम्. खानविलकर)

..... न्यायमूर्ति
(दिनेश माहेश्वरी)

नई दिल्ली
24 अप्रैल, 2020

अस्वीकरण: देशी भाषा में निर्णय का अनुवाद मुकद्दमेबाज़ के सीमित प्रयोग हेतु किया गया है ताकि वो अपनी भाषा में इसे समझ सके एवं यह किसी अन्य प्रयोजन हेतु प्रयोग नहीं किया जाएगा| समस्त कार्यालयी एवं व्यावहारिक प्रयोजनों हेतु निर्णय का अंग्रेज़ी स्वरूप ही अभिप्रमाणित माना जाएगा और कार्यान्वयन तथा लागू किए जाने हेतु उसे ही वरीयता दी जाएगी|